

# नामावर

अपनी उनकी सबकी बात

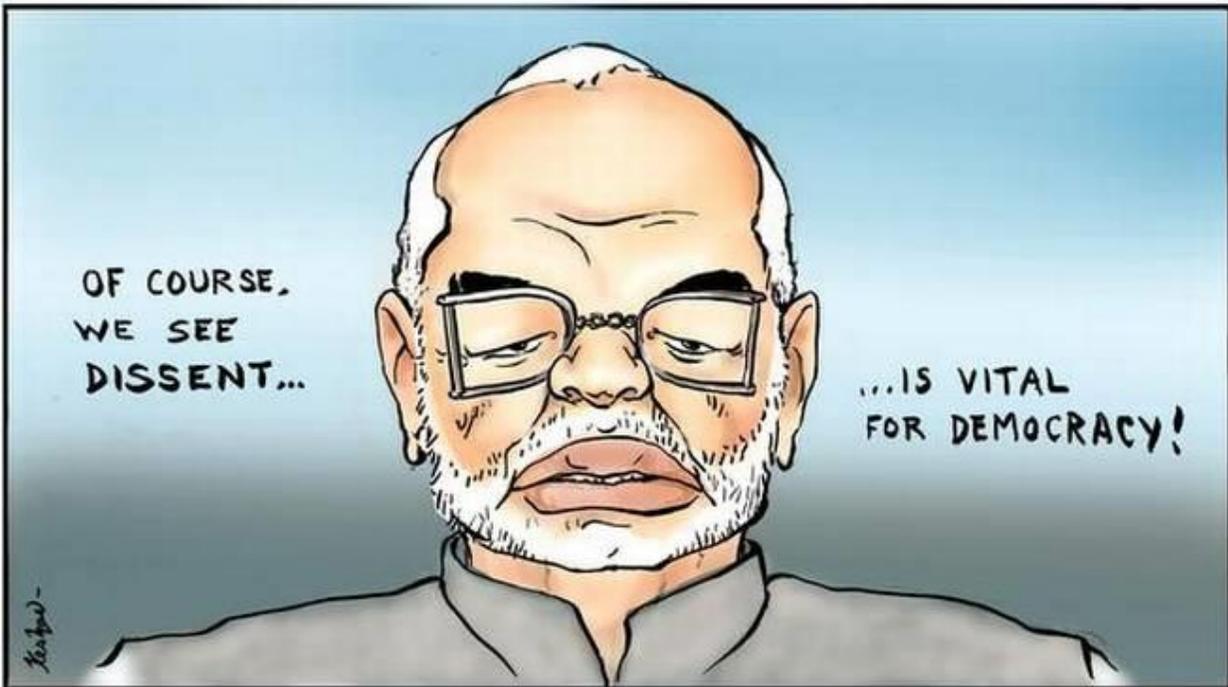
अगस्त 2018

नई दिल्ली

ज्योतिबा फुले की पुस्तक 'किसान का चाबुक'  
 प्रेमचंद का भगवा हाइजैक  
 आरएसएस के अध्यक्षेता वाल्टर एंडर्सन से बातचीत  
 नई नारायण कथाएं

कोरेगांव भीमा: अरुंधति रॉय  
 समीर अमीन को श्रद्धांजलि  
 कासगंज का सच  
 वरवर राव की कुछ कविताएं

पत्थरगढ़ी के नाम पर हो रहे आदिवासियों के दमन का रामराज्य की अवधारणा के ढांचे में विश्लेषण



## अपनी बात

नामाबर के इस दूसरे अंक के आने के साथ देश का सामाजिक वातावरण थोड़ा और संकटग्रस्त हो गया है। 2014 में नरेंद्र मोदी की सरकार केंद्र में आने के बाद अभी तक हमने हाशिये के तमाम समुदायों के ऊपर लगातार होते हमलों को देखा-सुना। उन्मादी भीड़ द्वारा घेरकर मुसलमानों और दलितों को जलाने और मारने की घटनाएं जब एक ऐसे स्तर पर पहुंच गईं कि तकरीबन रोज़ घटने लगीं और आमजन की संवेदना के लिहाज से 'न्यू नॉर्मल' बन गईं, तब यह दमन अपने दूसरे स्वाभाविक चरण में पहुंच गया।

चुनाव करीब हैं और हम पिछले दो महीनों से देख रहे हैं कि हाशिये के समुदायों की पैरवी और उनके पक्ष में बात करने वालों को सीधा शिकार बनाया जा रहा है। इनमें न केवल मानवाधिकारों के लिए लड़ने वाले सामाजिक कार्यकर्ता शामिल हैं, बल्कि वकीलों तक को फर्जी मुकदमों में फंसाकर जेलों में डाला जा रहा है। सत्ता की बेचैनी इसमें साफ़ नज़र आ रही है कि पहले उसने दलितों का मुकदमा लड़ने वाले वकील सुरेंद्र गाडलिंग पर मुकदमा थोपा और जेल में डाला। उसके बाद जब गाडलिंग के समर्थन में अधिवक्ता सुधा भारद्वाज और अन्य ने आवाज़ उठायी तो उन्हें भी उसी एफआइआर की जांच के दायरे में ला दिया गया। कुल प्रयास इस दिशा में है कि सबसे कमज़ोर लोगों के हक़ में बोलने वाला अंतिम शख्स भी न बचे।

दूसरी ओर पत्थरगड़ी के नाम पर आदिवासियों पर जुल्म जारी है तो महिलाओं के खिलाफ़ मुसलसल अत्याचार बिहार और देवरिया के बालिका गृह जैसे जघन्य अपराधों से सामने आ रहे हैं। खुलेआम दिनदहाड़े एक औरत को बिहार में निर्वस्त्र कर के बाज़ार में घुमाया जाता है तो झारखंड के खूटी में नुककड़ नाटक करने गईं महिलाओं के साथ सामूहिक बलात्कार होता है। कुल मिलाकर भय का एक ऐसा मनोविज्ञान गढ़ा जा रहा है जहां अब तक जो लोग भी अन्यायों के खिलाफ़ बोलने का साहस कर पा रहे थे उनकी ज़बान किसी तरह बंद कराई जा सके। यह घोषित इमरजेंसी नहीं है, लेकिन उससे कहीं ज्यादा खतरनाक स्थिति है।

ऐसे वक्त में गिरफ्तार किए गए तेलुगु के कवि वरवर राव की कविताएं हमें ढांडस बंधाती हैं तो इन गिरफ्तारियों पर अरुंधति राय का लिखा सुविचारित लेख बौद्धिक दिशा और संयम देता है। हमने भरसक कोशिश की है कि इस अंक में आपको सूचना के साथ-साथ वैचारिक दिशा से जुड़ी सामग्री भी दी जाए। प्रताप भानु मेहता भय के इस साम्राज्य की तह में जाकर उसके मनोवैज्ञानिक सूत्रों को पकड़ने की कोशिश कर रहे हैं तो वरिष्ठ आलोचक वीरेंद्र यादव प्रेमचंद जैसे प्रगतिशील कहानीकार को हाइजैक करने की संघी मूर्खताओं की पोल खोल रहे हैं।

इतने जटिल वक्त में हमारे बीच से कुछ बेहद जुझारू बुजुर्ग चले गए हैं। वरिष्ठ पत्रकार कुलदीप नैयर का जाना पत्रकारिता के लिए बड़ी क्षति है तो तीसरी दुनिया के देशों के विचारक समीर अमीन भी नहीं रहे। सिनेमा जैसी कुछ कलाएं अपने समय को संबोधित करने की कोशिश कर रही हैं, हालांकि यह काम पर्याप्त समझदारी के साथ नहीं हो रहा। जावेद नकवी की लिखी 'मुल्क' की समीक्षा इसका एक उदाहरण है। ऐसे वक्त में व्यंग्य कारगर औज़ार बनकर उभरता है। नई नारायण कथाएं आपको शायद पसंद आएंगे।

**शुभकामनाओं के साथ**

## आपकी बात

### वरवर राव की कुछ कविताएँ

#### कवि

जब प्रतिगामी युग धर्म  
घोंटता है वक्त के उमड़ते बादलों का गला  
तब न खून बहता है  
न आँसू।

वज्र बन कर गिरती है बिजली  
उठता है वर्षा की बूंदों से तूफ़ान...  
पोंछती है माँ धरती अपने आँसू  
जेल की सलाखों से बाहर आता है  
कवि का सन्देश गीत बनकर।

कब डरता है दुश्मन कवि से?  
जब कवि के गीत अस्त्र बन जाते हिं  
वह कैद कर लेता है कवि को।  
फाँसी पर चढ़ाता है  
फाँसी के तख्ते के एक ओर होती है सरकार  
दूसरी ओर अमरता  
कवि जीता है अपने गीतों में  
और गीत जीता है जनता के हृदयों में।

#### मूल्य

हमारी आकांक्षाएँ ही नहीं  
कभी-कभार हमारे भय भी वक्त होते हैं।  
द्वेष अंधेरा नहीं है  
तारों भरी रात  
इच्छित स्थान पर  
वह प्रेम भाव से पिघल कर  
फिर से जम कर  
हमारा पाठ हमें ही बता सकते हैं।

कर सकते हैं आकाश को विभाजित।

विजय के लिए यज्ञ करने से  
मानव-मूल्यों के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई  
ही कसौटी है मनुष्य के लिए।

युद्ध जय-पराजय में समाप्त हो जाता है  
जब तक हृदय स्पंदित रहता है  
लड़ाइयाँ तब तक जारी रहती हैं।

आपसी विरोध के संघर्ष में  
मूल्यों का क्षय होता है।

पुनः पैदा होते हैं नए मूल्य...  
पत्थरों से घिरे हुए प्रदेश में  
नदियों के समान होते हैं मूल्य।

आन्दोलन के जलप्रपात की भांति  
काया प्रवेश नहीं करते  
विद्युत के तेज की तरह  
अंधरों में तुम्हारी दृष्टि से  
उद्भासित होकर  
चेतना के तेल में सुलगने वाले  
रास्तों की तरह होते हैं मूल्य।

बातों की ओट में  
छिपे होते हैं मन की तरह  
कार्य में परिणित होने वाले  
सृजन जैसे मूल्य।

प्रभाव मात्र कसौटी के पत्थरों के अलावा  
विजय के उत्साह में आयोजित  
जश्न में नहीं होता।

निरन्तर संघर्ष के सिवा  
मूल्य संघर्ष के सिवा  
मूल्य समाप्ति में नहीं होता है  
जीवन-सत्य।

## स्टील प्लान्ट

हमें पता है  
कोई भी गाछ वटवृक्ष के नीचे बच नहीं सकता।

सुगंधित केवड़े की झाड़ियाँ  
कटहल के गर्भ के तार  
काजू बादाम नारियल ताड़  
धान के खेतों, नहरों के पानी  
रूसी कुल्पा नदी की मछलियाँ  
और समुद्रों में मछुआरों के मछली मार अभियान को  
तबाह करते हुए  
एक इस्पाती वृक्ष स्टील प्लांट आ रहा है।

उस प्लांट की छाया में आदमी भी बच नहीं पाएंगे  
झुर्रियाँ झुलाए बगैर  
शाखाएँ-पतियाँ निकाले बगैर ही  
वह घातक वृक्ष हज़ारों एकड़ में फैल जाएगा।

गरुड़ की तरह डैनों वाले  
तिमिगल की तरह बुलडोजर  
उस प्लांट के लिए  
मकानों को ढहाने और गाँवों को खाली कराने के लिए  
आगे बढ़ रहे हैं।

खैर, तुम्हारे सामने वाली झील के पत्थर पर  
सफ़ेद चूने पर लौह-लाल अक्षरों में लिखा है  
"यह गाँव हमारा है, यह धरती हमारी है--  
यह जगह छोड़ने की बजाय  
हम यहाँ मरना पसन्द करेंगे"।

## सीधी बात

लक़ीर खींच कर जब खड़े हों  
मिट्टी से बचना सम्भव नहीं।

नक्सलबाड़ी का तीर खींच कर जब खड़े हों  
मर्यादा में रहकर बोलना सम्भव नहीं

आक्रोश भरे गीतों की धुन  
वेदना के स्वर में सम्भव नहीं।

खून से रंगे हाथों की बातें  
ज़ोर-ज़ोर से चीख-चीख कर छाती पीटकर  
कही जाती हैं।

अजीब कविताओं के साथ में छपी  
अपनी तस्वीर के अलावा  
कविता का अर्थ कुछ नहीं होता।

जैसे आसमान में चील  
जंगल में भालू  
या रखवाला कुत्ता  
आसानी से पहचाने जाते हैं  
जिसे पहचानना है  
वैसे ही छिपाए कह दो वह बात  
जिससे धड़के सब का दिल  
सुगंधों से भी जब खून टपक रहा हो  
छिपाया नहीं जा सकता उसे शब्दों की ओट में।

जख्मों को धोने वाले हाथों पर  
भीग-भीग कर छाले पड़ गए  
और तीर से निशाना साधने वाले हाथ  
कमान तानने वाले हाथ  
जुलूस के लहराते हुए झंडे बन गए।

जीवन का बुत बनाना  
काम नहीं है शिल्पकार का  
उसका काम है पत्थर को जीवन देना।

मत हिचको, ओ, शब्दों के जादूगर!

जो जैसा है, वैसा कह दो  
ताकि वह दिल को छू ले।

### चिन्ता

मैंने बम नहीं बाँटा था

ना ही विचार  
 तुमने ही रौंदा था  
 चींटियों के बिल को  
 नाल जड़े जूतों से।

रौंदी गई धरती से  
 तब फूटी थी प्रतिहिंसा की धारा  
 मधुमक्खियों के छत्तों पर  
 तुमने मारी थी लाठी  
 अब अपना पीछा करती मधुमक्खियों की गूँज से  
 काँप रहा है तुम्हारा दिल!

आँखों के आगे अंधेरा है  
 उग आए हैं तुम्हारे चेहरे पर भय के चकते।

जनता के दिलों में बजते हुए  
 विजय नगाड़ों को  
 तुमने समझा था मात्र एक ललकार और  
 तान दीं उस तरफ अपनी बन्दूकें...

अब दसों दिशाओं से आ रही है  
 क्रान्ति की पुकार।

### कवि

जब एक डरा हुआ बादल  
 न्याय की आवाज का गला घोटता है  
 तब खून नहीं बहता  
 आंसू नहीं बहते  
 बल्कि रोशनी बिजली में बदल जाती है  
 और बारिश की बूंदें तूफान बन जाती हैं।  
 जब एक मां अपने आंसू पोछती है  
 तब जेल की सलाखों से दूर  
 एक कवि का उठता स्वर  
 सुनाई देता है।

# नई नारायण कथाएं

अजीत यादव

1

## जब राजा ने पेंदे के छेद से किया अग्नि का आवाहन!

एक समय की बात है। धरती पर आर्यावर्त नामक देश में एक राजा हुआ करता था। राजा के राज्याभिषेक के बाद सदियों बाद 'धर्म' का राज स्थापित हुआ था। देवतुल्य राजा के राज संभालते ही राज्य का एक बड़ा वर्ग प्रसन्न रहने लगा। नदियों में दूध बहने लगा, पेड़-पौधों फल-फूल के साथ राज्य की मुद्रा भी उगने लगी। जिसे भी आवश्यकता होती वो निडर होकर मुद्रा तोड़ लेता था। सभी भय, रोगमुक्त जीवनयापन करने लगे।

राजा बड़ा महान और मायावी था वह जिस मार्ग से बस गुजर भर जाता उसके पीछे पक्की सड़कें, गुरुकुल और अन्न के ढेर लग जाते थे। चिड़िया मंगलगीत गाती उड़ती थी। उसके राज्य में कोई दुखी न था सिवाय मूल निवासी असुरों के। राजा को देशद्रोही असुरों पर क्रोध तो बहुत आया लेकिन क्रोध का प्रयोग अपने शत्रुओं पर करने का उसे अद्भुत वरदान प्राप्त था। कहते हैं कि युवावस्था में राजा बनने से पहले वह हिमालय से तप कर लौटा था। वहां तप करने से देवता उससे प्रसन्न हुए थे और देवताओं ने उसे वरदान देते हुए आदेश दिया कि हे मनुष्य, आप यहां के लिए नहीं बने हो, आप प्रजा के बीच जाओ, राज करो। राजा ने ऐसा ही किया।

राजा के तपस्या के लिए हिमालय जाने से पूर्व बालपन के भी किस्से बहुत मशहूर थे। एक बार राजा जब बालक था तब निकट की नदी से मगरमच्छ का एक बच्चा घर ले आया। बालक के पिता ने उसे मगरमच्छ के इस बच्चे को सही सलामत नदी में छोड़ने का आदेश दिया और बालक ने तब भी ऐसा ही किया। देखते-देखते बालक की ये साहसिक कथा पूरे क्षेत्र में फैल गई।

अब पुनः बात करते हैं राजा के राज की। राजा को तपस्या के समय ही एक वरदान प्राप्त हुआ था। राजा अपने क्रोध से क्या-क्या कर सकता है इसकी चर्चा चारों दिशाओं में फैल चुकी थी। राजा का क्रोध और उससे जुड़ी मायावी शक्ति इतनी बलवान थी कि वो जिसकी ओर दृष्टि भर कर दे, वो उसके वशीभूत हो जाता था। राजा को सदियों तक कठोर तप से एक और अद्भुत वरदान प्राप्त हुआ था। वरदान के अनुसार जो भी राजा की आलोचना करता था वो आलोचना करते ही भस्म हो जाता था।

समय बीतने के साथ उसका प्रताप बढ़ता ही जा रहा था। राजा लगातार प्रजा के कल्याण के लिए योजनाओं की घोषणा करने में व्यस्त था। आम राज्य लगभग आ चुका था लेकिन कुछ असुर लगातार उसके इस महान उद्देश्य में विघ्न डालने का यत्न करते रहते थे। राजा में बस एक कमी थी, राजा की डेढ़ भुजाएं थी और उसके कान कमजोर थे। इन सब कमियों के बाद भी राजा अपने दो सुयोग्य मंत्रियों अमितनाथ और अरुणेंद्र के दम पर राज्य चला रहा था। राजा के मंत्रियों ने सलाह दी कि आपको जनता

को अपने दिल की बात बतानी चाहिए। राजा मुदित हुआ, परंतु राजा के दरबार में बैठे कुछ मार्गदर्शक लोगों ने सलाह दी कि हमें प्रजा के मन की बात भी सुननी चाहिए। राजा में अपने दो सबसे विश्वस्त मंत्रियों अमितनाथ और अरुणेंद्र की ओर उनकी राय जानने के लिए देखा। मंत्रीद्वय ने बिना समय गंवाए राजा को विनम्र सलाह दी कि राजा सिर्फ कहता है, सुनने का काम प्रजा का है।

यह प्रकरण वहीं समाप्त हो गया और पुनः किसी मार्गदर्शक ने मुंह नहीं खोला। हां, कुछ जागीरदारों ने समय-समय पर नियंत्रित विद्रोह करने की कोशिश की लेकिन राजा ने उनके पुत्रों को अपने दरबार में ऊंचे पद देकर अपनी तरफ मिल लिया। समय बीतने के साथ ये छोटे विद्रोही शत्रु राजाओं से जा मिले लेकिन उनके पुत्रों के राजा के दरबार में होने से राजा निश्चिंत था। समय बीतता गया और राजा के दरबार में छोटेमोटे विद्रोह के स्वर भी समाप्त हो गए। राजा ने मजबूत राज्य के लिए अपने दरबारियों और प्रजा से उनकी जिहवा का बलिदान मांगा। राजा का आदेश सुनकर प्रजा में से बहुत लोगों ने दो कदम आगे बढ़कर अपने हृदय तक बलिदान कर दिए। कुछ असुर लोगों ने बलिदान करने से मना कर दिया। राजा के आदेश की अवहेलना करने पर राजा के आदेश से सैनिकों ने विद्रोहियों की खोज-खोज कर जिहवा काट दी।

परंतु वो उनका हृदय नहीं निकाल पाए। बढ़ते असंतोष को दबाने के लिए राजा ने धर्म का दांव चला, लेकिन राजा का ये दांव भी बेकार चला गया। राजा द्वारा ईश्वर के भव्य मंदिर की स्थापना में असफल रहने के कारण ऋषि मुनियों और पुजारियों में भी असंतोष गहरा गया था। राजा की मुश्किल बढ़ती जा रही थी। राजा के गुप्तचर असंतुष्टों का पता लगाते और अगले दिन वो राजा के आदेश पर उनकी जिहवा काटते थे। राज्य में कटी जिहवा का पहाड़ बन गया था। कटी जिहवा का पहाड़ देख राजा को भय हो गया कि यदि सबकी जिहवा काट देंगे तो उसकी जय जयकार कौन करेगा। राजा ने उसकी आलोचना करने वालों की सजा में बदलाव करते हुए कहा कि आलोचकों के पेट पर बस जोर से लात मार कर उन्हें छोड़ दिया जाय। राजा ने अपने सबसे योग्य मंत्री अरुणेंद्र के कहने पर राज्य की मुद्रा भी बंद करवा दी लेकिन इससे विद्रोहियों को नुकसान होने की जगह राज्य में व्यापार लगभग नष्ट हो गया। कुछ बड़े व्यापारियों को छोड़ अधिकांश लघु व्यापारियों को भारी घाटा उठाना पड़ा। इस कारण से व्यापारी भी असंतुष्ट रहने लगे। इस त्रासदी का इतना भीषण प्रभाव हुआ कि राजा के कई प्रिय व्यापारी रातोंरात अपना व्यापार छोड़ दूर देश चले गए। कई व्यापारियों को तो राजा के सैनिकों ने सीमा पार करवाई।

प्रजा में असंतोष व्याप्त था परंतु राजा के मजबूत प्रचार तंत्र में उनकी आवाज़ दब कर रह गई। गुप्तचर काले कंबल ओढ़े कर सभी जगह विचरण करते और कभी भी किसी की भी पिटाई कर देते थे। विरोध करने पर राजद्रोही बताकर उन्हें गाय के गोबर के उपलों में ज़िंदा चुनवा दिया जाता था। विद्रोह दबाने के अभियान में राजा का ध्यान अर्थव्यवस्था से बिल्कुल हट गया जिसके फलस्वरूप राज्य में ईंधन महंगा हो गया और साथ ही बेरोज़गारी भी फैल गई। चूंकि राजा बड़ा दयालु और मायावी था अतः राजा से प्रजा का ये दुख देखा नहीं गया। वो दिनरात लगाकर अनुसंधान करता और नए-नए प्रयोग करता। उसके ही अनुसंधान के कारण पृथ्वी पर आज देखने वाले जलपान गृह, तांबूल भंडार और गौशालाओं की शुरुआत हुई। उस समय राजा के ही अनुसंधान से ये बात सामने आई कि गौशालाओं से प्राप्त गोबर का लेप किले की दीवार पर करने से शत्रुओं द्वारा हमले के समय उनके आग्नेयास्त्र निष्प्रभावी हो जाते हैं।

इसी बीच राजा के विरुद्ध हो रहे षडयंत्रों की कड़ी में राजा पर हो रहे हमलों का लाभ उठा एक पड़ोसी राजकुमार ने पड़ोसी राज्य के छोटे-छोटे राजाओं से मुलाकात करनी शुरू कर दी। इन राजाओं ने आपस में साजिश रच कर एक गठबंधन सेना का गठन कर लिया। इन राजाओं की रणनीति एक साथ कई दिशाओं से उसके गोबर लिपे किले पर हमला करने की थी। राजा को उसके गुप्तचरों ने उसे जैसे ही इस साजिश की सूचना दी राजा ने अपने विश्वासपात्र अरुणेंद्र और अमितनाथ को तुरंत आपात मंत्रणा के लिए बुलाया। दोनों मंत्रियों ने राजा को पहले सांतवना दी, उसके बाद सलाह देते हुए कहा कि जनता की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है जो आपके द्वारा किए गए परोपकारी कार्य नहीं देख पा रही है। राजा ने विश्वस्तों से कहा कि वो जल्दी जनता से निपटने का उपाय ढूँढ कर लाएं अन्यथा वो राजा के कोप का भाजन बनने के लिए तैयार रहें।

कई दिनों के गहन विचार विमर्श के बाद विश्वस्त द्वय राजा के दरबार में लौटे और राजा के कान में कुछ कहा। राजा की आँखों की चमक देख कर लगा कि राजा को प्रजा के दुख और भ्रम दूर करने का बेहतरीन उपाय मिल गया है। राजा ने जल्दी ही राज्य में अकुशल, अर्धकुशल और कुशल कारीगरों की एक सभा बुलाई। राजा को कहानियां सुनाने का बहुत शौक था। उसने इस सभा में भी एक कहानी सुनाई। कहानी कुछ इस प्रकार थी:

“मैं (राजा) एक बार राज्य में विहार करते हुए जा रहा था, तभी मैंने एक दुकानदार को मार्ग के किनारे कुछ बेचते हुए देखा। मैंने देखा कि वो व्यापारी अपनी दुकान पर रखे जलपान को गर्म रखने के लिए एक अदभुत विधि का प्रयोग कर रहा था। व्यापारी ने अपनी दुकान के पीछे बहने वाले नाले में एक बर्तन को उलट कर रख दिया और उस बर्तन के पेंदे में एक छेद कर दिया था। इस छेद में एक नली जैसी चीज लगा रखी थी। इस नली के मार्ग से नाले से निकलने वाला पदार्थ उसके चूल्हे में ईंधन की तरह जल रहा था। इस मुफ्त के ईंधन से व्यापारी बिना किसी लागत के मुनाफा कमा रहा था।”

राजा ने पूरी सभा और प्रजा को इस तरह के उपाय अपना कर अपनी जरूरत पूरी करने की शिक्षा दे डाली। राजा का मन इतने से नहीं भरा क्योंकि वह दयालु और मायावी था इसलिए जानता था कि दरबारी और आलोचक दोनों ही आलसी हैं। चूंकि वो दयालु और प्रजापालक था इसलिए उसने राज्य में बह रहे सभी नालों में नलीनुमा चीज लगवा दी और उस नली का मुंह बस्ती की ओर कर दिया। अब वो पदार्थ पूरे वातावरण में फैल गया था। इसके बाद बस्ती से काफी दिनों तक कोई आवाज़ नहीं सुनाई दी, सिर्फ नमः नमः के मंत्र गूंजते रहे।

कुछ समय बीतने के बाद गुप्तचर ने खबर दी कि दो राजकुमारों और दो महिलाओं ने गुप्त बैठकें की हैं और नदी के पार गहरी साजिश रचा जा रही है। राजा फिर बेचैन हो गया लेकिन क्रोध वाला वरदान उसे याद आया। इधर मंत्रीद्वय आसपास के राज्यों में जा कर संधि कर रहे थे। इसी बीच राजा को नई कहानी याद आ गई। राजा ने फिर से सभा बुलाने का आदेश दे दिया।

## 2

## जब राजा ने प्रजा के लिए शुरू की कल्याणकारी कारावास योजना

राजा के परमादेश पर विशेष सभा आहूत कर दी गई थी। राज्यादेश का पालन हुआ और सभी मंत्री, संतरी, गुरुओं और दरबारी विद्वानों का जमावड़ा हुआ। सभा में चर्चा का विषय था कि ऐसा क्या हुआ है... सब तो ठीक चल रहा था! पशु-पक्षी और यहां तक कि नागरिक भी तो राजा के आवंटित विधान और आदेशों का पालन कर ही रहे थे। सदैव की भांति इस बार भी किसी की समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

तभी दरबानों ने राजा के आने का उद्घोष कर दिया। सदैव की भांति सभी दरबारी एक पैर खड़े हो गए। कई दरबारी तो सिर के बल खड़े हो गए। सभा की कार्यवाही शुरू करने का आदेश हुआ। राजा के सबसे विश्वस्त दुखी और चिंतित मुद्रा में धरती में गड़े जा रहे थे। राजा की इस विद्वत परिषद में सबसे खास उनके वित्त मंत्री ने एक पत्र पढ़ कर राज्य पर वर्तमान संकट की आदेशनुमा जानकारी दी। मंत्रिवर ने कहा कि हमारे राज्य में कुछ तत्व हमारे चक्रवर्ती, यशस्वी महाराज के विरुद्ध विद्रोह करने की योजना बना रहे हैं। ये विद्रोही भिन्न प्रकार के विद्यार्थी और उनके शिक्षक, वनवासियों, मजदूरों और सुविधा नागरिकों को हमारे राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए भड़का रहे हैं। राज्य पर संकट की घड़ी है। गुप्तचरों ने सूचना दी कि वे हमारे यशस्वी चक्रवर्ती व राजा की हत्या की साजिश रच रहे हैं।

भरी सभा में रहस्यमय शांति छा गई किंतु शीघ्र ही कौतूहल ने उसकी जगह ले ली। कुछ दरबारियों को क्रोध आया और बाकी सभी को मूर्छा। हे ईश्वर! कौन अधम, नीच, पापी ये दुस्साहस कर रहा है? म्यानों से तलवारों के निकलने से धातुओं के टकराने की ध्वनि साफ सुनी जा सकती थी। वातावरण में पहले तनाव, फिर उतनी ही तेज़ी से अफवाह फैलने लगी। सभी की अपनी अपनी समझ, निष्ठा और स्वादानुसार चर्चा होने लगी। राजर्षि ने सभी से समान मात्रा में विचलित, दुखी और व्यग्र होने का आदेश मिश्रित आह्वान किया। सभी दरबारियों ने हर बार की तरह ऐसा ही किया। समान मात्रा और समवेत स्वर में सब कुछ। राजा ने भरी सभा में घोषणा कि मैं राज्य के सभी निवासियों के लिए कितने कल्याणकारी काम कर रहा हूँ और वहीं कुछ नगरवासी इतनी निम्न कोटि के षडयंत्र कर रहे हैं। अगर मैं यानि आपका राजा नहीं रहा तो मेरे राज्य के नागरिक गरीब हो जाएंगे और जनता बेरोज़गार हो जाएगी। मुझसे भिन्न विचार रखने वाले देशद्रोही नर्क जाएंगे। राजा ने ऐसे देशद्रोहियों को तुरंत गिरफ्तार कर राजदरबार में प्रस्तुत करने के आदेश दिए।

सैनिक राजा के आदेश का मात्राशः पालन करने निकल पड़े। इन विद्रोहियों के निवास स्थलों से उन्हें बंदी बना कर राजदरबार के समक्ष प्रस्तुत किया। सैनिकों ने दरबार में महाराज को बताया कि बंदी लोगों में कई महिलाएं हैं। सैनिकों ने कहा- महाराज इनमें से एक बंदी महिला तो विवाहित होने के उपरांत भी विवाहित महिलाओं के जैसा साज-श्रृंगार नहीं करती। इतना ही नहीं, यह महिला ईश्वर की आराधना भी नहीं करती। इस महिला के पास एक विचित्र से व्यक्ति की प्रतिमा मिली है। सैनिकों ने महाराज को बताया कि ये महिला वनवासियों के कल्याण और उनके अधिकारों पर कुछ वार्तालाप करती पकड़ी गई हैं। ये सामान्य बात नहीं है, ये तो राष्ट्रद्रोह की सूची के क्रमांक में सबसे ऊपर अर्थात् जघन्य अपराध है। जब महाराज स्वयं जनता के कल्याण के लिए इतने चिंतित रहते हैं फिर इस प्रकार का प्रलाप कोई

सामान्य नागरिक कैसे कर सकता है। एक मंत्री ने कहा कि यदि कोई नागरिक अथवा प्रजा राजा के विरुद्ध बातें करे तो उसे देशद्रोह ही माना जाएगा।

राजा मौन होकर चर्चा सुन रहे थे। दूसरे मंत्री ने तर्क दिया कि उनके राजा इतने दयालु और परोपकारी हैं इसलिए वे सभी के मन की बातें जान लेते हैं। इसी गुणवश महाराज ने सबके मन की बात जान ली और किसी नागरिक को कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रही। अब ऐसे परोपकारी राजा के विरुद्ध षडयंत्र राष्ट्रद्रोह नहीं तो और क्या माना जाए।

विद्रोह के आरोपितों पर अनेक आरोप लगे, राज्य के सेनापति ने कहा कि इन विद्रोहियों ने राज्य में वनवासियों की एक सभा आयोजित की थी जहां राज्य के विरुद्ध अनर्गल प्रलाप किए गए और भोले भाले नागरिकों को भड़काया गया। ऐसा करने वाले ये नागरिक नर्क की अग्नि में जलने के पात्र हैं। महाराज की जय हों, महाराज शतायु हों, के उदघोष से सभा गूंज उठी। महाराज की सभा और दरबार में उपस्थित सभी नागरिकों और अधिकांश प्रजा ने इन्हें दोषी माना। इन लोगों कठोर कारावास की मांग उठी। राजा न्यायप्रिय और दयालु थे। उन्होंने कहा- इन्हें हम एक मौका देना चाहते हैं। अभी कुछ दिनों के लिए इन अधम लोगों को उनके घरों में नज़रबंद कर दिया जाय। महाराज ने कहा- शीघ्र ही हम न्याय करेंगे। सभा में विद्रोहियों को दंडित कर समाज को संदेश देने पर सहमति बन चुकी थी, तभी एक दरबारी ने डरते हुए कहा कि महाराज यदि प्राणदान हो तो कुछ कहना चाहता हूँ। महाराज से पहले महामंत्री ने कहा- कहो।

दरबारी ने कहा- महाराज, आप निःसंदेह दयालु और परोपकारी हैं परंतु राज्य में आप द्वारा चलाई जा रही योजनाओं का लाभ प्रजा तक नहीं पहुंच पा रहा है। प्रजा दुखी है और प्रजा के मन की असली बात आप तक नहीं पहुंच पा रही है। राजा चूँकि दयालु थे इसलिए वे चुप रहे, दरबारी का सिर धड़ से अलग नहीं किया। राजा के कुछ विश्वस्तों ने उस दरबारी को चुप कराने की कोशिश की लेकिन वह कहते रहा- महाराज आज आप कुछ लोगों को कारावास भेज सकते हैं परंतु यदि इस प्रकार ही चलता रहा तो पूरी प्रजा के लिए कारावास कहां से लाएंगे।

इतना सुनते ही महाराज क्रोधित हो गए। उन्होंने उसे बंदी बनाने का आदेश दे दिया। इस पूरे प्रकरण से महाराज चिंतित तो थे परंतु कोई उनके मन की बात नहीं पढ़ सकता था। महाराज ने विद्वत् परिषद को आदेश दिया कि वे पूरी प्रजा के लिए कारावास का निर्माण कराना चाहते हैं। महाराज ने अपने महारत्नों को शीघ्र ही समस्या का हल ढूंढ कर लाने का आदेश दिया। शीघ्र ही राजा के महारत्न दरबार में अपने समाधान के साथ लौटे। सभा दोबारा शुरू हुई।

राजा के सबसे विश्वस्त महारत्न ने कहा कि इस संपूर्ण समस्या का कारण राज्य में उच्च शिक्षा की उपलब्धता और सभी को अपने मत व्यक्त करने की स्वतंत्रता का सुलभ होना है। प्रजा भिन्न भिन्न प्रकार के ज्ञान अर्जित करती है जिसके कारण प्रजा के मन प्रश्न उठते हैं जो महाराज और स्वयं प्रजा के लिए भी अहितकर हैं। ये कालांतर में ईश्वर की सत्ता के लिए भी घातक हैं और हमारे परम यशस्वी चक्रवर्ती महाराज तो स्वयं पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं ही। अतएव इस जगत की रक्षा के लिए महाराज को उच्च शिक्षा की सहज उपलब्धता को समाप्त करना होगा। इतना ही नहीं, प्रजा की

मतभिन्नता महाराज के लिए खतरा है। राजा ने आदेश दिया कि राज्य के गुरुकुलों में सीमित विषयों पर ज्ञान दिया जाए। गुरुकुलों में बटुकों को ऐसे विषय नहीं पढ़ाए जाएं जिससे तर्कशक्ति का विकास हो। राज्य में आचार्यों को ऐसे आदेश दिए जाएं जिससे गुरुकुलों में मतैक्य का पोषण और विकास हो। राज्य में पुस्तकालय यदि हों तो उनको शीघ्र खाली करा कर इनमें देवालयों की अथवा तीर्थ स्थानों के रूप में विकसित किए जाएं। राज्य में धर्म के प्रचार पर विशेष ध्यान दिया जाए एवं प्रजा द्वारा देवताओं की पूजा अनिवार्य कर दी जाए। राज्य में विशेष अभियान चलाकर वनवासियों से राज्य की भूमि को खाली कराया जाए।

राजा ने आदेश दिया कि राज्य में प्रजा में से चिन्हित कर स्वयंसेवी निरीक्षकों के कई दल बनाए जाएं जो म्लेच्छों, अधर्मियों, विधर्मियों और पापियों को चिन्हित कर तुरंत न्याय करें। इस प्रकार के त्वरित न्याय से राजकीय ईश्वर की कृपा राज्य पर पुनः बरसनी प्रारंभ हो जाएगी। दयालु और न्यायप्रिय राजा के आदेश सुनते ही सभा में राजा का जयघोष इतना उच्च स्वर हुआ कि ये जयघोष स्वर्ग तक पहुंचा। स्वर्ग से देवताओं ने पुष्पवर्षा की जिसका राजा ने प्रणाम कर धन्यवाद दिया।

राज्य में इस बीच छोटे मोटे विद्रोह के समाचार आते रहे। गुप्तचर निरंतर गुरुकुलों का निरीक्षण करते, राज्य के सैनिक पुस्तकालयों को ध्वस्त करते रहते। राज्य में तर्कशक्ति के क्षरण और मतैक्य के विकास पर राजा का विशेष ध्यान था। राजा के इन प्रयासों से संतोषप्रद परिणाम निकला हालांकि उसमें थोड़ा समय अवश्य लगा, परंतु शीघ्र ही गुप्तचरों ने सूचना दी कि निकट के वन में नदी के उस पार वनवासियों और विद्रोहियों व कुछ पड़ोसी राजकुमारों ने फिर से मंत्रणा की है।

राजा फिर उद्विग्न हो उठा। किले में बैठा वह नदी के उस पार वन से उठता धुआँ देख पा रहा था।

## उनकी बात

### शेतकर्याची आसुड (किसान का चाबुक)

#### ज्योतिबा फुले

जोतीराव (ज्योतिबा) फुले 19वीं सदी के भारत के अग्रणी चिंतक थे, जिन्होंने भारतीय समाज को सदियों से जकड़े जातिगत और स्त्री उत्पीड़न के ब्राह्मणवादी विचार के विरुद्ध संघर्ष को आधुनिक समता बंधुत्व स्वतंत्रता की जनवादी दृष्टि से वैचारिक-सैद्धांतिक आधार प्रदान किया; सबसे पहले सभी के लिए मुफ्त सार्वजनिक शिक्षा का सवाल उठाया, औपनिवेशिक व्यवस्था में किसान-दस्तकार समुदायों के निर्मम शोषण का प्रथम विस्तृत विवरण भी लिखा एवं श्रमिकों को संगठित करने के प्रथम प्रयास किये। पर अभी भी ज्यादा लोग फुले के लेखन से परिचित नहीं हैं। 1873 में लिखित 'गुलामगिरी' को तो कुछ हद तक जाना-पढ़ा भी गया है, पर 1883 में लिखित उनकी अत्यंत महत्वपूर्ण 'किसान का चाबुक' को बहुत कम जाना जाता है। इस पुस्तक का संक्षिप्त परिचय और आलोचना यहाँ प्रस्तुत है।

परिप्रेक्ष्य के लिए यह जानना जरूरी है कि अपनी युवावस्था के आरम्भ में ही फुले यूरोप-अमेरिका के 18वीं सदी की बुरुजुआ जनतांत्रिक क्रांतियों के अग्रणी मानवतावादी चिंतकों के विचारों से परिचित हो चुके थे। इनमें भी मानव समानता और मुक्ति के सबसे क्रांतिकारी चिंतक थॉमस पेन की 'राइट्स ऑफ मैन' फुले 1847 में पढ़ चुके थे और समता, बंधुत्व, मानव स्वतंत्रता के रेडिकल विचार उनके प्रेरणा स्रोत बन चुके थे। यूरोपीय विचारकों के इन विचारों से प्रभावित फुले भारत में यूरोपीय शासन की एक प्रगतिशील भूमिका मानते थे। पर इसके ठीक विपरीत ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन तंत्र द्वारा भारतीय समाज में ब्राह्मणवादी प्रभुत्व को मान्यता-संरक्षण और शासन चलाने के लिए उसके साथ किये गठजोड़ का यथार्थ अनुभव उनके दिमाग में बहुत सारे प्रश्न भी खड़े कर रहा था। औपनिवेशिक शासन की शोषणकारी नीतियों द्वारा शूद्र-अतिशूद्र किसान, दस्तकार और मजदूर समुदायों के जीवन में आई भारी तबाही-विपत्ति भी उनके सामने थी और इसके कारणों और उपायों पर भी वह चिंतित थे। शिवाजी के नेतृत्व में जो शूद्र कुनबी राजा जागीरदार बन कर खुद को मराठा कहने लगे थे (भोंसले, सिंधिया, होल्कर, गायकवाड़, आदि) खुद उनके दरबार-प्रशासनिक तंत्र में भी कैसे ब्राह्मणवादी प्रभुत्व हो गया था और उसके द्वारा शूद्रों-अतिशूद्रों के निर्मम शोषण के तथ्य का जिक्र भी फुले इस पुस्तक के प्राक्कथन में ही करते हैं। पुस्तक के पहले अध्याय में फुले बताते हैं कि एक ओर तो अशिक्षित किसान ब्राह्मणवादी पुरातनपंथी धार्मिक विचारों की जकड़न के शिकार हैं, साथ ही औपनिवेशिक शासन का सारा तंत्र भी भट-ब्राह्मण कर्मचारियों पर ही टिका है। अपनी तीक्ष्ण व्यंग्यात्मक शैली में फुले विस्तार से इसका वर्णन करते हैं कि कैसे पूरे जीवन ही नहीं बल्कि उसके पहले मां द्वारा गर्भधारण के वक्त से ही चालाक ब्राह्मण कर्मकांडों के द्वारा किसान परिवारों की लूट शुरू होती है और एक किसान की मृत्यु के बाद उसके बच्चों द्वारा श्राद्ध के रूप में जारी रहती है। जन्म, मृत्यु, विवाह हो या किसी का मकान बनना हो अर्थात् जीवन के हर कार्य में ब्राह्मण कर्मकांड अनिवार्य अंग हैं और हरेक में दक्षिणा के नाम पर पंडे-पुजारियों की असीम लालसा-हवस प्रकट होती है और वे किसानों के खून-पसीने की मेहनत की उपज का एक बड़ा हिस्सा लूटने में सफल होते हैं। इसके आगे फुले चैत्र प्रथमा से फाल्गुन अंत की होली पूजा तक की तमाम

अमावस्या-पूर्णिमा, एकादशी, चतुर्दशी, अष्टमी-नवमी, ग्रहण, मेलों-त्यौहारों, देवी पूजा, सत्यनारायण, रामायण, महाभारत, आदि की कथाओं के नाम पर ब्राह्मणी कर्मकांडों में पंडों द्वारा किसानों को फंसा कर की गई वर्ष भर की लूट का भी पूरा ब्यौरा देते हैं।

यही ब्राह्मण इन शूद्र किसानों के बच्चों को अपने संस्कृत विद्यालय में प्रवेश नहीं देते। हाँ, अहसान के तौर पर कुछ को प्राकृत मराठी विद्यालय में ले लेते हैं। इसके बदले मासिक शुल्क ही नहीं, अमावस्या-पूर्णिमा और तमाम तिथियों पर उनसे भेंट में सीधा (अन्न आदि सूखा, कच्चा भोज्य पदार्थ) भी वसूल करते हैं। और इसके बदले में जमीन पर कुछ अक्षर, मोदी (मराठी की एक पुरानी लिपि), थोड़ा कच्चा हिसाब, कुछ बेकार गाथाएं और लावणी जैसे गाने सिखाते हैं जिससे वे तमाशे में अभिनय करने लायक बन जाएं। पर इससे वे इस लायक भी नहीं हो पाते कि अपने घर का हिसाब-किताब ही पूरी तरह रख पाएं, किसी दफ्तर में क्लर्क, मामलातदार, वगैरह बनना तो बड़ी दूर की बात है।

इतने लम्बे वक्त से इस ब्राह्मणवादी शोषण-ठगी को चलते जाने का मुख्य कारण फुले के अनुसार ब्राह्मणों द्वारा अपने शासन व्यवस्था में पहुंचने के समय से ही शूद्रों को शिक्षा से वंचित रखने के अन्यायपूर्ण नियम-कायदे हैं। दूसरा कारण है कि राजसत्ता में जो भी रहा, चाहे शिवाजी जैसे शूद्र राजा ही क्यों न हो, उनके शासन तंत्र में ब्राह्मणों ने प्रभुत्व कायम कर लिया। इसके लिए वे शिवाजी की अशिक्षा और ब्राह्मणों की चालाकी को जिम्मेदार मानते हैं। शिवाजी के वंशजों के वक्त ब्राह्मण पेशवाओं द्वारा शासन अपने हाथ में लेकर किये गए अन्याय-अत्याचार का भी विस्तृत ब्यौरा यहां दिया गया है। आगे फुले कहते हैं कि कायर ब्रिटिश हुकूमत भी इन्हीं ब्राह्मणवादी परम्पराओं, कायदों को न सिर्फ चलने दे रही है बल्कि इन पर हजारों रुपये भी खर्च करती है जो किसानों के खून-पसीने की कमाई से टैक्स के रूप में वसूल किये जाते हैं। उनकी शिकायत है कि ब्राह्मण सरकारी अमला किसानों की सही दयनीय हालत को ब्रिटिश हुक्काम तक नहीं पहुंचता, नहीं तो दयालु अंग्रेज हुकूमत जरूर उनकी दशा सुधारने के लिए कुछ कदम उठाती। निष्कर्ष में फुले कहते हैं कि ब्राह्मणवादी शोषण से धन और वक्त दोनों में अज्ञानी किसान की हालत इतनी बदतर हो चुकी है, पीढ़ियों से शिक्षा का इतना डर उसके दिमाग में बिठाया जा चुका है कि उसमें अपने बच्चों को शिक्षित करने की कूव्वत और हिम्मत बची ही नहीं है। यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि फुले जब किसान कह रहे हैं तो सिर्फ खेती करने वाले ही नहीं बल्कि पशुपालक, बागबान और कृषि से सम्बंधित अन्य काम करने वाले भी इसमें शामिल हैं।

दूसरे अध्याय में फुले ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता की नीतियों और देशी रजवाड़ों-जमींदारों तथा ब्राह्मणवादी तंत्र के साथ उसके गठजोड़ के परिणामस्वरूप शूद्र-अतिशूद्र किसानों, पशु पालकों, दस्तकारों के भयंकर शोषण और उससे उत्पन्न अकाल-भुखमरी की स्थिति की चर्चा करते हैं। इसके तहत वे मुख्यतः इन बिंदुओं की चर्चा करते हैं -

1. अंग्रेजी हुकूमत द्वारा किये गए जमीन बंदोबस्त में खेत का लगान उपज से जुड़ा नहीं बल्कि जमीन के रकबे से निश्चित होने और हर 30 साल में इसके बढ़ाये जाने की व्यवस्था
2. वन विभाग द्वारा गरीब किसानों और भूमिहीनों को लकड़ी, फल, पत्ते, आदि वन उत्पादों तथा गाय-बकरी पालक दूध बेचने वालों को चरागाह से वंचित करना

3. परिणामस्वरूप उत्पन्न खेती के संकट से बहुत से गरीब किसानों का परिवारों सहित मजदूरी के लिए मजबूर होना
4. ब्रिटिश कारखानों के सस्ते मशीनी उत्पादों के सामने दस्तकारों के उत्पादों के ना टिक पाने से बुनकरों, जुलाहों, आदि की बरबादी
5. साहूकारों द्वारा जमीन लिखवाकर सूद पर कर्ज देना और किसानों की जमीनें कब्ज़ा लेना
5. पहले के राजाओं-बादशाहों द्वारा शूद्र-अति शूद्रों को जो रोजगार मिलते भी थे, उनको भी अंग्रेजी राज में बंद कर सिर्फ ब्राह्मणों को सरकारी अमले में भर्ती करना
6. अंग्रेजी हुक्काम का भ्रष्टाचार, ऐशो-आराम और अपने मातहत ब्राह्मण अमले के जरिये सरकारी दफ्तरों, पुलिस, अदालत, आदि में किसानों का भारी शोषण-दहन

फुले बताते हैं कि इन सबके परिणामस्वरूप शूद्रों-अति शूद्रों के जीवन की वास्तविक स्थिति में अत्यंत गिरावट आई और वे भारी पैमाने पर अकाल और भुखमरी का शिकार होने लगे। अपने परिवारों-बच्चों की इस दर्दनाक हालत में कुछ न कर पाने में असमर्थ कुछ किसान-दस्तकार हताशा में नशे और अपराधी वृत्तियों का शिकार होने का जिक्र भी उन्होंने किया है।

फुले खास तौर पर शिक्षा व्यवस्था की बदहाली और किसानों को उससे वंचित रखने की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार सरकार शिक्षा प्रसार के नाम पर किसानों से लाखों रुपये लोकल फंड इकट्ठा करती है पर उसमें से मुश्किल से एक तिहाई ही दिखावे के लिए खर्च कर यहां-वहां कुछ स्कूल बनाती है जिसमें कुछ पंडे शिक्षकों को रख देती है जो पढ़ाने के बजाय दिन भर अपने कर्मकांड में ही लगे रहते हैं। अंग्रेजी सरकार ने बहुत आलोचना के बाद शिक्षा के लिए जो हंटर आयोग बनाया था उस पर सख्त कटाक्ष करते हुए फुले कहते हैं कि उसने आम जनता के लिए शिक्षा की वास्तविक हालत जानने का प्रयास करने के बजाय बम्बई, मद्रास में सिर्फ ब्राह्मण, पारसी, ईसाई अभिजात लोगों की बात सुनी और वापस कलकत्ता की ओर कदम बढ़ा दिए। (अंग्रेजी हुक्मत द्वारा आम जनता के लिए सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था के बजाय सिर्फ ब्राह्मणों-अभिजातों के लिए उच्च शिक्षा पर ध्यान देने के मुद्दे पर फुले ने इस हंटर आयोग को एक प्रतिवेदन भी लिखा था, जिसे अलग से पढ़ा जा सकता है।)

फुले की बात के परिप्रेक्ष्य को समझने के लिए यहां कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करना जरूरी है। ब्रिटिश पूर्व काल में भारत में आम तौर पर कृषि भूमि ग्राम समाजों के सामूहिक प्रबंधन में होती थी और कृषि लगान की व्यवस्था मूलतः उपज के हिस्से पर आधारित थी। इसलिए पहले के राजा-बादशाह सामंती शोषक होते हुए भी खुद अपने हित में उपज को सुनिश्चित करने के लिए तालाब-कुएँ आदि बनवाने में दिलचस्पी रखते थे। अकाल से बचने के लिए नई फसल को कुठारों में रख पिछली फसल को भोजन हेतु प्रयोग करने की परंपरा थी। इन ग्राम समाजों में भी शोषण-उत्पीड़न था पर दो साल से ज्यादा सूखा या प्राकृतिक आपदा होने से ही अकाल की स्थिति आती थी। लेकिन कॉर्नवालिस द्वारा 1793 में किये गए स्थाई जमींदारी बंदोबस्त या महालवाड़ी/रैयतवाड़ी व्यवस्थाओं में लगान को जमीन के रकबे की माप के आधार पर रुपये में तय कर दिया - उपज हो या नहीं; यह लगान हर 30 वर्ष में बढ़ाया भी जाता था। फिर जमींदार और उसके कर्मचारियों द्वारा अंग्रेजी सरकार को इतना लगान देने के बाद भी और वसूली/बेगार लिया जाता था। साथ में रेलवे आने के बाद फसल आने पर सस्ते दामों पर व्यापारियों द्वारा इसकी खरीदारी मालगाड़ियों से बंदरगाह होते हुए इसके निर्यात का बाजार भी शुरू हुआ। लेकिन

फसल के बाद में जरूरत के वक्त अनाज के दाम बढ़ जाते थे। इसलिए अब अनाज भंडारण का बफर भी नहीं रहा और एक मौसम में बारिश न होने या कई बार तो अच्छी फसल के साल में भी अकाल पड़ने लगे क्योंकि लगान, कर्ज, सूद चुकाने की गरज में फसल के वक्त सस्ता बेचना और फिर महंगे दाम खरीदना ग्रामीण जनता की विवशता बन गया। 19 वीं सदी में अंग्रेजी सरकार के रिकॉर्ड मुताबिक 31 अकाल में 3 करोड़ 25 लाख लोग मरे, फुले के लिखते वक्त 1875-1900 में ही 2 करोड़ 60 लाख लोग अकाल मृत्यु के शिकार हुए। वैसे असली संख्या कहीं ज्यादा थी - ब्रिटिश मेडिकल जर्नल लैंसेट के अनुसार 1890-1900 के दशक में ही 1 करोड़ 90 लाख लोग मरे। अच्छी फसल के साल 1943 में चर्चिल द्वारा फसल जब्त करा लिए जाने से बंगाल में 50 लाख लोग भूख से मरे।

यह निरंतर गंभीर होती दर्दनाक स्थिति फुले के सामने थी और यह समझना मुश्किल नहीं होना चाहिए कि इसका मुख्य भुक्तभोगी समाज का ऊपरी ब्राह्मण-सवर्ण तबका नहीं बल्कि किसान, भूमिहीन मजदूर और दस्तकार शूद्र-अतिशूद्र जनता थी। इसीलिए यहां फुले ब्राह्मणों के साथ-साथ न सिर्फ ब्रिटिश शासकों बल्कि नए उभर रहे समाज सुधारकों पर भी व्यंग्य-कटाक्ष करते नजर आते हैं क्योंकि उनकी नजर में सर्वाधिक शोषित-पीड़ित जनता पर अन्याय के प्रतिकार के बगैर किसी राष्ट्रीय या सामाजिक सुधार का कोई अर्थ नहीं। 1947 तक के पूरे राष्ट्रीय आंदोलन पर उनकी यह शुरुआती टिप्पणी अहम है; अपने कुछ अन्य लेखों में उन्होंने इस पर और अधिक लिखा है।

तीसरे अध्याय में ज्योतिबा फुले अंग्रेजी औपनिवेशिक व्यवस्था द्वारा वंशागत अभिजात्य की ब्राह्मणवादी व्यवस्था को अपना एजेंट-सहयोगी बना लेने और दोनों के इस गठजोड़ द्वारा शूद्र-अतिशूद्र किसान-दस्तकार-मजदूर जनता के भयानक शोषण-दहन की आर्थिक व्यवस्था का विस्तार से विश्लेषण-वर्णन करते हुए इस अत्याचार के न रुकने पर ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को किसानों के विद्रोह के संकेत के रूप में इसके भयानक नतीजे होने की चेतावनी भी देते हैं।

फुले पहले प्राचीन भारत में मूल निवासी गणतंत्रों-राज्यों, उन पर आर्यों-यवनों के आक्रमण और वर्ण-जाति की उत्पत्ति पर अपने विचार रखते हैं। फिर मनुस्मृति आदि में ब्राह्मणों द्वारा बनाये गए अत्याचारी कायदों और शूद्र-अति शूद्रों को शिक्षा से वंचित करने तथा इसके प्रभाव से पैदा अज्ञान में ब्राह्मणों द्वारा उन पर किये गए नियंत्रण की चर्चा करते हैं। इसके बाद फुले कहते हैं कि अंग्रेज हुकूमत ने बहुत जल्दी ब्राह्मणों के इस नियंत्रण को समझकर उन्हें अपने शोषण में सहयोगी बना लिया जिससे उन्हें अपनी लूट में कम से कम प्रतिरोध का सामना करना पड़े और शीर्ष पर बैठे अंग्रेज ऐशो आराम का जीवन बिता सकें। इसके लिए उन्होंने ब्राह्मणों को अपने शासन में कर्मचारी रखा, उन्हें संरक्षण दिया। खुद और अपने ब्राह्मण कर्मचारियों की बड़ी कमाई के लिए उन्होंने अपने द्वारा स्थापित जमींदारी व्यवस्था में किसानों पर लगान के रूप में भारी टैक्स लगाए, जिन्हें हर 30 साल में बढ़ाने की भी व्यवस्था की। किसानों के बच्चों को शिक्षित करने के बहाने 'लोकल फंड' वसूलना शुरू किया, सड़क पर हर 6 मील पर एकसाइज (चुंगी) चौकी बना दी जो अपनी उपज बेचने जाते किसानों से लाखों रुपये इकठ्ठा करने लगी; शहर की मंडी में अनाज-सब्जी बेचने जाने पर म्युनिसिपल टैक्स लगा दिया और नमक तक पर कर लगा दिया। जो किसान जंगल से लकड़ी, फल, पत्ते, आदि एकत्र कर बेचते थे उन्हें वन विभाग ने जीविका से वंचित कर दिया। ऊपर से किसानों की उपज को मनमाने सस्ते दामों पर खरीद कर इंग्लैंड के मजदूरों को बेचने के

लिए खरीदा जाने लगा जिससे इन व्यापारियों ने भारी कमाई की। पिछले अध्याय में अकालों की स्थिति के एक कारण के रूप में हम इसकी चर्चा पहले ही कर चुके हैं।

इसके आगे फुले कहते हैं कि भारत की पुरानी सामंती व्यवस्था में सभी किस्म के राजा बांध, नहर, कुएं, तालाब, सड़क, सराय, स्नानघर, पेड़-जंगल, आदि उपज के हिस्से के तौर पर वसूल किये सार्वजनिक कोष से करते थे, इनके लिए अलग से टैक्स नहीं लेते थे। अंग्रेजों ने सिंचाई, सड़क की व्यवस्था के लिए अलग से किसानों से वसूली शुरू की; साथ ही इन पर खर्च के नाम पर ब्रिटिश बैंकों से भारी कर्ज लेकर उसे भारतीय जनता पर लाद दिया गया, जिसके ब्याज के तौर पर सालाना सैंकड़ों करोड़ रूपया भारत के किसानों से टैक्स के रूप में वसूल होकर इंग्लैंड के बैंकों को जाने लगा। इस स्थिति में अधिकांश किसानों को फसल की लागत भी वसूल नहीं होती और वे लगान चुकाने के लिए भी सूदखोरों से कर्ज लेने को विवश होते हैं। ऊपर से सरकार कहती है कि किसान को कोई दिक्कत नहीं, उनकी गरीबी का कारण शादी-ब्याह में शान-शौकत पर किया गया खर्च है।

फिर ब्रिटिश उद्योगों का सस्ता माल भारत आने लगा, उस पर आयात शुल्क भी शून्य कर दिया गया, जिससे वह देशी दस्तकारों के उत्पादों से सस्ता बिकने लगा। इससे लुहार, जुलाहे, बुनकर, चमड़े का काम करने वाले, जूते बनाने वाले, आदि सभी किस्म के भारतीय दस्तकार पूरी तरह बरबाद होकर भुखमरी का शिकार होने लगे। इसके आगे फुले बहुत विस्तार से ब्रिटिश औपनिवेशिक लूट का वर्णन करते हुए 4-5 बेटों और उनकी बहुओं के पूरे परिवार सहित 8 बैलों की खेती करने वाले किसान और सबसे निचले दर्जे के अंग्रेज - फौज के गोरे सिपाही - के बीच तुलना करते हैं। वे दिन रात की हाड़तोड़ मेहनत के बाद किसान के घर, भोजन, वस्त्रों, आदि की दुर्दशा, शिक्षा-चिकित्सा के अभाव के साथ गोरे फौजी के वेतन, निवास, पलंग-बिस्तर, कपड़ों, भोजन, शराब, जूतों, इलाज-दवा, ऐश-आराम के जीवन की धुर विपरीत तस्वीर खींचते हुए अंग्रेजी औपनिवेशिक व्यवस्था की लूट और उसके स्वार्थी-भ्रष्ट ब्राह्मण कर्मचारियों की इस पूरे लूट के निजाम को चलाने में भूमिका को भी दिखाते हैं। वह कहते हैं कि यह व्यवस्था आम लोगों को बेईमानी और अनैतिक रास्ते अपनाने का प्रशिक्षण दे रही है।

निष्कर्ष में फुले ब्रिटिश सरकार को चेतावनी देते हैं कि यह लूट अगर कम नहीं हुई, हुकूमत के सरंजाम पर भारी खर्च के लिए अगर किसान-दस्तकार-मजदूर जनता को इसी तरह लूटा जाता रहा तो इसके भयंकर परिणाम के लिए तैयार रहे। एक प्रकार से फुले 1857 जैसे विद्रोह का इशारा करते हैं। हालांकि यह भी जान लेना जरूरी है कि पुराने सामंतों के नेतृत्व में हुए 1857 के विद्रोह के फुले विरोधी थे। पुस्तक के चौथे अध्याय में फुले एक परिवार का उदाहरण लेकर किसानों के जीवन में छाई भारी विपत्ति का मार्मिक चित्रण करते हैं जिसको यहाँ संक्षेप में लिखना मुमकिन नहीं। उनके अनुसार अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन के पहले किसानों का जीवन तुलनात्मक रूप से बेहतर था, वे अकाल-भुखमरी का शिकार नहीं थे। लेकिन औपनिवेशिक शासन द्वारा किये जमीन बंदोबस्त में लगाए गए भारी टैक्स और अन्य किस्म की उगाही-वसूली, हर 30 साल में इनमें वृद्धि, अंग्रेज अफसरों और उनके मातहत ब्राह्मण कर्मचारियों की अय्याशी-लूट, पाटिल-कुलकर्णी आदि पारम्परिक पदाधिकारियों द्वारा औपनिवेशिक शोषण तंत्र में शामिल हो जाना, औपनिवेशिक शासन की नीतियों से कृषि के लिए जरूरी पशुधन का नष्ट होना, हर वर्ष अनाज, कपास, चमड़े, ऊन, आदि जिंसों का विदेशों में बड़े पैमाने पर निर्यात, विदेश में उत्पादित मालों का आयात, अंग्रेज शासन के गोरे अफसरों, इंजीनियरों, डॉक्टरों द्वारा ब्रिटिश सरमायेदारों के फायदे

के लिए काम करना, इसके चलते किसान का सूदखोरों के जाल में फंसना, अपनी संपत्ति को गंवाते जाना, अशिक्षा-अन्धविश्वास के शिकार किसानों का ब्राह्मण कर्मकांडों द्वारा निर्मम शोषण। इन सबका नतीजा है बड़े पैमाने पर किसानों का अकाल, भुखमरी और महामारियों का शिकार होकर जान गंवाना। फुले बताते हैं कि इस विपत्ति भरे जीवन की हताशा-निराशा का नतीजा ही बड़ी संख्या में किसान परिवारों के नौजवानों का नशा, वेश्यावृत्ति, आपराधिक जीवन, जैसी बुराइयों में फंसकर अपने जीवन को बरबाद करने में भी हो रहा है। अंग्रेज सरकार द्वारा किसानों की शिक्षा के नाम पर लोकल फंड में लाखों रुपये की उगाही कर शिक्षा का कोई इंतजाम न करने की बात करते हुए फुले व्यंग्य से कहते हैं कि अगर किसान शिक्षित हो जाये तो वह चाबुक का शिकार होने के बजाय चाबुक चलाने लगेगा और उसके डर से ये सारे अंग्रेज अफसर-कर्मचारी चीखते-चिल्लाते सीधे अमेरिका जाकर रुकेंगे, जहाँ उन्हें दिन रात मेहनत कर अपना पेट भरना पड़ेगा।

एक और बहुत महत्वपूर्ण पक्ष जिसकी ओर फुले यहाँ संकेत करते हैं वह है उस वक्त राष्ट्रवादी आंदोलन की एकदम शुरुआती अवस्था में उस समय बन रही एसोसिएशनों-सभाओं के चरित्र का विश्लेषण। उनकी नजर में यह सब ब्राह्मणों का आंदोलन था। उनके अनुसार अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा, विदेश यात्रा, आदि से प्राप्त आधुनिकता का लाभ भी मात्र ब्राह्मणों को ही मिला था। इन सभाओं में आम किसानों-दस्तकारों के आर्थिक एवं सामाजिक शोषण का सवाल कहीं नहीं था, उनकी शिक्षा का सवाल इसमें शामिल नहीं था। बल्कि यह लोग तत्कालीन आर्थिक-प्रशासनिक व्यवस्था के बजाय किसानों के द्वारा विवाह, आदि में भारी व्यर्थ खर्च, आदि को उनकी गरीबी, बदहाली का कारण मानते थे।

अंतिम अध्याय में फुले सबसे पहले उस समय संपन्न शिक्षित तबके में आकार ले रहे राष्ट्रीय आंदोलन और उसके द्वारा राष्ट्रीय एकता के आह्वान पर तीखे सवाल उठाते हैं क्योंकि समाज का यह ब्राह्मणवादी सवर्ण तबका ऐतिहासिक रूप से शूद्र-अतिशूद्रों पर अत्याचारों के लिए जिम्मेदार था। उस समय भी यह वर्ग औपनिवेशिक सत्ता के साथ मिलकर किसान, दस्तकार, मजदूर वर्गों के शोषण में हिस्सेदार था। साथ ही यह उन्हें मनुष्य तक मानने को तैयार नहीं था। उनके मत से यह तबका कारोबारी, प्रशासनिक जरूरतों के लिए आधुनिक चिंतन का दिखावा करता था लेकिन अपने सांस्कृतिक, सामाजिक, व्यक्तिगत जीवन में पूरी तरह कट्टर पुरातनपंथी ब्राह्मणवादी रूढ़ियों-विचारों पर कायम था। इसलिए फुले इनसे सीधा सवाल करते हैं कि इनके साथ शूद्र-अतिशूद्र किसान, दस्तकार, मजदूर जनता की एकता किस आधार पर मुमकिन है? भोंसले, होल्कर, सिंधिया, गायकवाड़ जैसे शूद्र राजा भी फुले की दृष्टि से किसान शूद्र-अतिशूद्रों का शोषण करते हुए ऐशो आराम में मस्त थे और उनके शासन-दरबार में भी ब्राह्मणवादी तबका ही हावी था।

अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन के बारे में भी फुले का विचार था कि अपने घनघोर शोषण आधारित शासन को चलाने के लिए उन्होंने भी ब्राह्मणवादी तबके को मददगार मानकर उसे अपना मातहत सहयोगी मान लिया है। औपनिवेशिक शासन में उच्च पदासीन अंग्रेजों के मातहत सभी पदों पर यही तबका जड़ जमाकर भारतीय मेहनतकश जनता की निर्मम लूट का औजार और छोटा हिस्सेदार बन बैठा है। इसीलिए अंग्रेज हुकूमत कृषि के उत्थान और किसानों के कल्याण तथा शिक्षा के लिए कोई कदम नहीं उठाती। यहाँ तक कि इनकी शिक्षा के लिए वसूल किये जाने वाले लाखों रुपये फंड को भी उस मद में खर्च नहीं

करती। फुले इस पर गुस्सा जताते हुए अंग्रेजी शासन के लिए इसके खतरनाक नतीजों की चेतावनी देते हैं।

साथ ही फुले मानते हैं कि कुछ सहृदय अंग्रेजों तथा मिशनरियों के कारण उनके जैसे कुछ शूद्रों को भी शिक्षा पाने का अवसर प्राप्त हुआ है जिससे उन्हें ब्राह्मणों ने लम्बे वक्त तक वंचित रखा था। कुछ शूद्रों-अतिशूद्रों को रेलवे, फ़ौज, आदि में नौकरियों का मौका भी मिला था। इससे उनमें जागृति और अपने अधिकारों की चेतना पैदा हुई थी। फुले थॉमस पेन, बेंजामिन फ्रैंकलिन, आदि यूरोपीय जनतांत्रिक-मानवतावादी चिंतकों से भी प्रभावित थे। उनकी नजर में अंग्रेज प्रबुद्ध और आधुनिक विचारों वाले थे। इसलिए औपनिवेशिक शासन के अत्याचारों और उसमें ब्राह्मणों के प्रभुत्व के बावजूद भी उन्हें यह उम्मीद थी कि शोषित-वंचित तबकों के जीवन की वास्तविक स्थिति सामने लाने और उनके जीवन में सुधार की तार्किक मानवीय अपीलों से अंग्रेज शासकों का नजरिया बदला जा सकता है। इसलिए वे औपनिवेशिक सरकार को किसानों के हित के लिए सामान्य और कृषि तकनीकी शिक्षा, सिंचाई व्यवस्था, जमीन को उपजाऊ बनाने और उत्पादकता बढ़ाने से लेकर बहुविवाह, नशे, अश्लील गाने-तमाशों पर रोक, आदि बहुत से कार्यों का सुझाव भी देते हैं।

इस प्रकार 'शेतकऱ्यांची आसुड' में शूद्र-अतिशूद्र किसानों, दस्तकारों, मजदूरों के शोषण पर फुले के विचारों का सार-संक्षेप करें तो पाते हैं कि वे इस शोषण को कुछ चालाक ब्राह्मणों द्वारा मिथकों, कर्मकांडों, देवी-देवताओं के अभिशाप-वरदान के ढोंग-पाखंड की वर्ण-जाति व्यवस्था द्वारा भोले-भाले शूद्रों को ठग लेना मात्र तक सीमित नहीं समझते। बल्कि इसे समाज में स्थापित राजसत्ता द्वारा संचालित आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के अंग के रूप में देखते थे। यद्यपि वे इन शब्दों का प्रयोग नहीं करते पर फुले वर्ण-जाति व्यवस्था को समाज के उत्पादन संबंधों और उससे जुड़े शासक-शासित के संबंधों के रूप में समझ रहे थे क्योंकि उत्पादन संबंधों के बिना सत्ता या शासक का कोई अर्थ नहीं। सत्ता के लिए सत्ता जैसी तो कोई चीज होती नहीं, सत्ता का आधार ही समाज के अधिकांश हिस्से द्वारा किये गए श्रम के उत्पाद को हस्तगत करना है, यह चाहे गुलामी की जंजीर में बंधे दासों से श्रम कराकर हो, या सामंती समाज में किसानों की उपज का बड़ा हिस्सा सामंतों द्वारा हथिया कर किया जाये, या फिर पूंजीवादी समाज में श्रमिकों की श्रम शक्ति द्वारा उत्पादित अधिशेष मूल्य पर पूंजीपति के मालिकाने के द्वारा हो। लेकिन अधिकांश मेहनतकश जनता के श्रम की यह लूट सिर्फ सत्ता की फौजी या दंडात्मक ताकत के सहारे ही चला पाना बहुत मुश्किल होता। इसलिए शासक वर्ग ऐसे विचार-दर्शन को भी लेकर आये जो शासितों के दिमाग में इस लूट को उचित मान कर स्वीकार कर लेने का आधार बने तथा इस निर्मम लूट-उत्पीड़न की असहनीय पीड़ा में अफीम जैसा दर्द निवारक बन जाये। जैसा मार्क्स ने कहा हर समाज में प्रचलित प्रभावी विचार शासकों के ही विचार होते हैं। जब पशुपालन और कृषि से निजी संपत्ति अस्तित्व में आई जिस पर पहले पराजित बंदियों, फिर खुद अपने समुदाय के भी गरीब सदस्यों से श्रम कराकर मुखिया, सेनापति अपनी संपत्ति बढ़ा सकें और उसे आगे अपनी संतान को विरासत में दे सकें, तब से ही हर समाज में न सिर्फ एक शोषित वर्ग अस्तित्व में आया बल्कि पितृसत्ता द्वारा स्त्रियों का पराभव भी हुआ। साथ ही इस शोषक व्यवस्था को तार्किक, उचित ठहराने के लिए शासकों ने धर्म, अध्यात्म, दर्शन को भी जन्म दिया।

भारतीय उपमहाद्वीप के भूभाग में शोषण की व्यवस्था को उचित ठहराता शासकों का यह विचार-दर्शन ही ब्राह्मणवाद था क्योंकि इसके कर्मफल, पुनर्जन्म, मोक्ष, श्रेय-प्रेय और वर्णाश्रम के विचार शासितों को अपने जीवन के अन्याय और पीड़ा को सहन और स्वीकार करने में मदद करते थे। इसलिए उसके बाद जो भी शासक रहे उन्होंने ब्राह्मणवाद को अपना संरक्षण दिया। ब्राह्मणों के लिए भी प्रत्येक शासक के साथ गठजोड़ ही अभिप्रेय रहा। इसी लिए शक, यवन, हूण, मंगोल, गुर्जर, आदि जो भी अपनी सैन्य शक्ति से राजा बना उसे ही ब्राह्मणों ने क्षत्रिय स्वीकार कर लिया। अगर शूद्रों में भी कोई राजा बन बैठा (पाल वंश, नन्द वंश, पूर्व-दक्षिण के अन्य राजवंश, मराठा, आदि) तो ब्राह्मणों को उसके दरबारी-सहयोगी बनने में भी कोई तकलीफ नहीं हुई और शुरुआती टकरावों के बाद उन शासकों को भी ब्राह्मणों को अपने सहयोगी बना लेने में कोई ऐतराज नहीं हुआ क्योंकि वे इस बात को समझ गए कि ब्राह्मणवाद श्रम की लूट और शासितों द्वारा विद्रोह को रोकने में उनके लिए मददगार था। इस्लाम जैसे संगठित धर्म के साथ यह आरम्भिक टकराव ज्यादा हुआ लेकिन मुस्लिम शासकों ने भी अपने शासन के स्थायित्व के लिए बाद में ब्राह्मणवादी अभिजात तबके के साथ अहस्तक्षेप और सहजीवन को स्वीकार कर लिया और मुगल दरबारों में फिर से ब्राह्मणवादी अभिजात तबके को इज्जत का स्थान प्राप्त होने लगा।

फुले भी इसी बात की पुष्टि करते हैं जब वे कहते कि शूद्र राजाओं के दरबार-प्रशासन में भी ब्राह्मण ही छाए हैं और वहां भी शूद्र-अतिशूद्र किसानों का उतना ही शोषण होता है। इसी तरह अंग्रेजों ने भी जल्दी ही समझ लिया कि भारत की जनता पर राज्य करने के लिए ब्राह्मणवादी अभिजात तंत्र बहुत सहायक सिद्ध होगा। इसलिए 1857 से पहले कंपनी शासन के दौरान भारत के पुराने अभिजात वर्ग से जो थोड़ा बहुत टकराव हुआ भी, 1858 में विक्टोरिया की घोषणा द्वारा ब्रिटिश शासन ने इस अभिजात तबके को संरक्षण और उसके हितों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दे दिया गया और उन्होंने औपनिवेशिक प्रशासन में अधिकांश पदों पर उन्हीं को भर्ती करना शुरू किया। बदले में इस तबके ने भी खुद को ब्रिटिश शासन का खैरख्वाह घोषित किया जिसकी सबसे बड़ी वैचारिक अभिव्यक्ति औपनिवेशिक कर्मचारी बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय के 'आनंदमठ' में हुई जिसमें ब्रिटिश शासन को ब्राह्मणवाद के पूर्ण समर्थन का ऐलान किया गया। इसी विचार पर चलते हुए हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठन अंत तो औपनिवेशिक शासन के वफादार बने रहे। यही वजह है कि औपनिवेशिक हुकूमत शिक्षा के नाम पर बड़ी रकम टैक्स में वसूल करती थी लेकिन उसका इस्तेमाल भी किसानों की शिक्षा के बजाय ब्राह्मणवादी अभिजात वर्ग की उच्च शिक्षा के लिए ही करती थी। शूद्र-अतिशूद्रों को शिक्षा के जो मौके मिले थे वे कुछ मिशनरियों और सहृदय यूरोपीय व्यक्तियों के कारण ना कि औपनिवेशिक हुकूमत द्वारा उनके लिए किये गए किसी प्रयास की वजह से। फुले की बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि 1947 में भी भारत की साक्षरता दर मात्र 12% थी जिसमें भी शूद्र-अतिशूद्र शायद 1% से भी नीचे थे। यद्यपि कुछ नौकरियां फ़ौज, रेलवे, आदि में मिली थीं लेकिन 1893 में फ़ौज में लड़ाकू जाति के सिद्धांत के तहत महार, आदि दलित जातियों की भर्ती बंद कर दी गई।

निष्कर्ष यह कि अपने जीवन के अंतिम दशक में फुले इस निष्कर्ष पर पहुंच रहे थे कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन शूद्र-अतिशूद्र जातियों के किसान-मजदूर-दस्तकारों के लिए एक निर्मम शोषण से भरा शासन था। उस पर वह कई सख्त टिप्पणी और कटाक्ष करते हैं और सुधार न होने पर विद्रोह की चेतावनी भी देते हैं। पर उसके खिलाफ राष्ट्रीय आंदोलन को खड़ा करने के जो प्रयास उस समय चल रहे थे उसका नेतृत्व भी ब्राह्मणवादी अभिजात तबके के हाथ में था जो अपने तात्कालिक आर्थिक-राजनीतिक

हितों के लिए आधुनिक जनतांत्रिक सिद्धांतों की बात तो करता था लेकिन अपने सामाजिक-सांस्कृतिक चरित्र में पूरी तरह कटटर पुरातनपंथी था। अतः फुले की नजर में इस आंदोलन में शूद्र-अतिशूद्र जनता का कोई हित नहीं था। इसलिए फुले उसका सख्त विरोध करते हुए उससे जुड़ने से साफ इंकार भी करते हैं।

तब सवाल उठता है कि औपनिवेशिक शासन और ब्राह्मणवादी अभिजात तंत्र के खिलाफ एक स्वतन्त्र रेडिकल आंदोलन खड़ा करने का प्रयास फुले ने क्यों नहीं किया? यद्यपि 1885 में सत्यशोधक समाज के अंतर्गत फुले शूद्र जातियों के अलग धार्मिक संस्कारों के साथ-साथ श्रमिकों को भी संगठित करने का प्रयास कर रहे थे और उनके सहयोगी नारायण मेघजी लोखंडे ने मुंबई में प्रथम श्रमिक संगठन बनाया था लेकिन अपने जीवन के अंतिम वर्षों में उनका ध्यान धार्मिक-सामाजिक सुधारों पर ही ज्यादा रहा। इसे सिर्फ फुले की व्यक्तिगत ही नहीं उस समय तक भारत के किसान-श्रमिक जनसमुदाय की राजनीतिक चेतना, शिक्षा की सीमा ही मानना चाहिए। किन्तु उनके बाद भी उनके सत्यशोधक समाज में इस दिशा में आगे बढ़ने लायक नेतृत्व का अभाव था और वह जल्द ही बिखर गया।

फुले के बाद इस औपनिवेशिक शासन और ब्राह्मणवादी पुरातनपंथ के विरुद्ध एक राष्ट्रीय आंदोलन के विचार को आगे बढ़ाने का प्रथम गंभीर प्रयास कनाडा-अमेरिका में प्रवासी पंजाब के किसान-मजदूर तबके द्वारा हुआ जिसके संगठन ग़दर पार्टी ने मात्र राजनीतिक आजादी ही नहीं, बल्कि आर्थिक समानता और धर्म-जाति आधारित विभेद की समाप्ति को भी अपना लक्ष्य बनाया। भगत सिंह और हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन ने भी इस दिशा में कदम बढ़ाये। मगर आम जनसमुदाय को राजनीतिक रूप से सचेत और संगठित करने के पहले ही सशस्त्र संघर्ष में कूद पड़ने की स्थितियों में यह धारा बहुत आगे नहीं बढ़ पाई। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी भी अपनी वैचारिक समझ की गंभीर कमजोरियों की वजह से इस धारा के आधार पर आगे बढ़ने के बजाय अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन के सामान्य फैसलों को ही भारत में लागू करने में जुटी रही। इसी का नतीजा था कि जिस ब्राह्मणवादी अभिजात तबके द्वारा नीत राष्ट्रीय आंदोलन के खिलाफ फुले सचेत कर रहे थे वह ही भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व हासिल करने में सफल रहा और उसने राजनीतिक सत्ता प्राप्त की लेकिन इस क्रम में भारतीय समाज में धर्म-जाति आधारित प्रतिक्रियावादी विचारों और अन्याय को भी स्थापित रखा। यही भारतीय इतिहास की बड़ी त्रासदी है।

(साभार: समयांतर)

## प्रेमचंद की भगवा लिचिंग

वीरेंद्र यादव

बाबा साहेब आम्बेडकर के अधिग्रहण की मुहिम के बाद अब भगवा ताकतों के निशाने पर प्रेमचंद हैं। आरएसएस के मुखपत्र 'पांचजन्य' ने अपने 5 अगस्त (2018) के अंक को प्रेमचंद पर केन्द्रित किया है। हिंदुत्व के रंग में रंगने की मुहिम में 'पांचजन्य' की स्थापना है कि 'प्रेमचंद की भारतीयता उनके हिन्दू होने का पर्याय है। इसमें इस देश का राग है, मातृभूमि का स्वर है, जो हजारों वर्षों की हिन्दू संस्कृति से निकला है। उनकी कहानी उनके हिन्दूपन को स्पष्ट करती है। उनका साहित्य 95 प्रतिशत हिन्दू समाज पर केन्द्रित है। प्रेमचंद की कहानी 'ईदगाह' की उज्ज्वला योजना के सन्दर्भ में नरेन्द्र मोदी द्वारा चर्चा के उल्लेख के बहाने यह भी लक्षित किया गया है कि मोदी प्रेमचंद से प्रेरणा लेते हैं।

स्वाभाविक ही है कि 'पांचजन्य' के इस भगवा महायज्ञ की पुरोहिताई कमल किशोर गोयनका करते क्योंकि वे लम्बे समय से प्रेमचंद को हिन्दू रंग में रंगने के अभियान छेड़े हुए हैं। अंक में गोयनका का लम्बा साक्षात्कार प्रकाशित है जिसमें उन्होंने भगवा तर्कों द्वारा प्रेमचंद का शुद्धीकरण करते हुए यह ज्ञानदान किया है कि 'प्रेमचंद ने जो प्रगतिशील लेखक संघ में उद्घाटन भाषण दिया था उसमें एक भी शब्द मार्क्सवाद से जुड़ा नहीं है। प्रेमचंद ने इसकी स्थापना भी नहीं की थी। उन्होंने इस संस्था की कोई कल्पना नहीं की थी। अपने भाषण में प्रेमचंद आध्यात्मिक आनंद की बात करते हैं। आध्यात्मिक तृप्ति की बात करते हैं। आध्यात्मिक संतोष की बात करते हैं।'

झूठ भगवा प्रचारकों का पुराना हथियार है वर्ना गोयनका प्रेमचंद के भाषण के उस अंश को अवश्य याद रखते जिसमें उन्होंने कहा था कि 'बंधुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। धर्म प्रवर्तकों ने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बंधनों से इस स्वप्न को सचाई बनाने का सतत किन्तु निष्फल प्रयास किया है। हम अब धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊंचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें तो विफलता ही मिलेगी। हमें एक ऐसे संगठन को सर्वांगपूर्ण बनाना है जहाँ समानता केवल नैतिक बंधनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले।'

इतना ही नहीं, प्रेमचंद ने वर्गीय दृष्टि अपनाते हुए अन्यत्र यह भी लिखा कि 'मनुष्य समाज दो भागों में बंट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत छोटा हिस्सा उन लोगों का जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किये हुए हैं।' प्रेमचंद ने यह तक लिख डाला कि 'जब तक संपत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक संपत्ति-व्यक्तिवाद का अंत न होगा, संसार को शांति न मिलेगी।'

लेकिन तथ्यों, तर्कों से संघियों का क्या वास्ता? वे तो गोयबल्स का अनुकरण करते हुए झूठ और कुतर्कों की फसल काटते हैं।

‘पांचजन्य’ द्वारा प्रेमचंद के हिन्दूकरण के इस अभियान में प्रेमचंद की आरंभिक रचनाओं के हवाले से उन्हें हिंदुत्व के पाले में खींचने का दुष्प्रयत्न किया गया है। ‘जिहाद’ कहानी के हवाले से यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि ‘जब एक हिन्दू जिहाद के लिए अपना बलिदान दे सकता है, तो हजारों हिन्दू बलिदान क्यों नहीं दे सकते.’ इतना ही नहीं, प्रेमचंद ने अपनी जिन कहानियों में हिन्दुस्तान शब्द का प्रयोग किया है, उसे ‘हिन्दुस्थान’ के रूप में संदर्भित किया गया है। एक लेख में प्रेमचंद को ‘आर्यसमाज का सिपाही’ कहा गया है तो दूसरे में स्वामी श्रद्धानंद का अनुयायी।

इस अंक के एक लेख का तो शीर्षक ही है ‘साहित्य का रंग : खूनी लाल नहीं सर्वहितैषी भगवा’। एक अन्य लेख में यह तक कहा गया है कि ‘सोजे वतन से चला उनका राष्ट्रवाद ‘गोदान’ में गाय की महत्ता की कहानी कहते हुए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की व्याख्या भी कर जाता है.’ और यह भी कि ‘गोदान’ के मुख्य केंद्र में भारतीय संस्कृति में सर्वाधिक श्रद्धेय गाय है.’ और ‘गोदान’ के माध्यम से यह भी बताया गया है कि हमारे जीवन के संस्कारों में गाय का कितना आध्यात्मिक महत्व है.’ पांचजन्य के इस अंक में मनोरंजन का भरपूर सामान जुटाते हुए ‘गोदान’ उपन्यास का महत्व इन आप्तवचनों में प्रस्तुत किया गया है- ‘हमारी हिन्दू संस्कृति में गाय का गोबर सर्वाधिक पवित्र मना जाता है जहाँ पूजा में उसके लेप के बिना हमारे कोई भी आध्यात्मिक संस्कार पूरे नहीं होते. ऐसे गाय-गोबर और उसके गोदान से पूर्ण है ‘गोदान’ महाकाव्य.’

उल्लेखनीय यह भी है कि ‘पांचजन्य’ के प्रेमचंद के शुद्धीकरण के इस महायज्ञ में हिन्दी साहित्य समाज की मुख्यधारा का एक भी लेखक, बुद्धिजीवी शामिल नहीं है। एक ऐसा पत्रकार जरूर शामिल है जो इन दिनों ‘दैनिक जागरण’ की छावनी पर मुस्तैदी से तैनात रहकर अपनी भगवा ‘विजय’ के ‘अनंत’ उन्माद में लोटता पोटता रहता है। इस अंक में भी अपनी समिधा के रूप में उसने ‘वामपंथ के शिकार बने प्रेमचंद’ शीर्षक से एक बेसिरपैर का लेख लिखा है जिसमें मेरा भी तर्पण किया है। उस पर रायपुर के भगवा साहित्य महोत्सव के मेरे द्वारा किये गए वैचारिक विरोध का आतंक अब तक प्रेत की तरह मंडरा रहा है।

‘पांचजन्य’ का यह समूचा अंक और प्रेमचंद के भगवाकरण का अभियान गोयबल्स की तर्ज़ पर मिथ्या प्रचार का निकृष्टतम उदाहरण है, जिसे साहित्य के विकृतिकरण के अधोबिंदु के रूप में दर्ज किया जाना चाहिए। आने वाले समय में झूठ और दुष्प्रचार का यह अभियान कितना भयावह और हाहाकारी होगा, यह सचमुच अकल्पनीय है। प्रेमचंद की इस लिंचिंग पर हम सचमुच आक्रोशित और संतप्त हैं।

## सबकी बात

पुणे के कोरेगांव भीमा में पेशवाओं के खिलाफ महारों के युद्ध की 200वीं जयन्ती के उत्सव के दौरान हुई हिंसा को लेकर जो मुकदमा दर्ज किया गया था उसके नाम पर दिल्ली सहित देश भर से पिछले दो महीनों के दौरान लगातार मनमर्जी गिरफ्तारियां जारी हैं। कवि वरवर राव, अधिवक्ता सुधा भारद्वाज, सामाजिक कार्यकर्ता अरुण फरेरा व वर्नान गॉजाल्वेस, बुद्धिजीवी गौतम नवलखा, अधिवक्ता सुरेंद्र गाडलिंग, रोना विल्सन, महेश राउत और अन्य को अब तक गिरफ्तार किया जा चुका है। इन गिरफ्तारियों के खिलाफ देश भर के सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं और बौद्धिकों में रोष है। अरुंधति राँय ने इस लेख में देश के बौद्धिक जगत के आक्रोश को स्वर दिया है। लेख का अनुवाद जितेन्द्र कुमार ने किया है।

### अरुंधति राँय

जिस चीज के बारे में हम लोग बहुत दिनों से बहस कर रहे हैं, उसे 30 अगस्त 2018 के अखबार ने स्पष्ट कर दिया है। इंडियन एक्सप्रेस ने अपने पहले पन्ने की रिपोर्ट में कहा है, "पुलिस ने न्यायालय को बताया: जिन्हें पकड़ा गया वे फासीवादी सरकार को उखाड़ फेंकने की साजिश रच रहे थे।" हमें अब यह पता हो जाना चाहिए कि हम एक ऐसे शासन के अधीन हैं जिसे उसकी अपनी पुलिस ही फासीवादी कहती है। आधुनिक भारत में, अल्पसंख्यक होना ही अपराध है। मार दिया जाना अपराध है। पीट-पीट कर मार दिया जाना अपराध है। गरीब होना अपराध है। गरीबों के हक की बात करना सरकार को उखाड़ फेंकना है।

जब पुणे की पुलिस ने कई जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ताओं, लेखकों, वकीलों और पादरियों के घरों पर एक साथ पूरे देश में दबिश देकर पांच लोगों को- जिसमें तीन बड़े मानवाधिकार कार्यकर्ता और दो वकील हैं- बहुत ही हास्यास्पद या सतही आरोपों में गिरफ्तार किया, तो सरकार इस बात को बहुत ही अच्छी तरह जानती थी कि इसका प्रतिरोध होगा। इस कदम को उठाने से पहले अगर सरकार यह सब जानती थी कि उसका पूरे देश में विरोध होगा और इस तरह के प्रेस कांफ्रेंस भी होंगे तो उसने ऐसा किया क्यों?

हालिया उपचुनाव के वास्तविक वोटर आंकड़ों और देशव्यापी सर्वेक्षण को एक साथ मिलाकर लोकनीति-सीएसडीएस के अध्ययन से पता चलता है कि बीजेपी और प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी बहुत ही तेजी से अपनी लोकप्रियता खो रहे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हम खतरनाक दौर में प्रवेश कर रहे हैं। अपनी लोकप्रियता में हो रही गिरावट की असली वजहों से जनता का ध्यान हटाने और विपक्षी दलों के बीच बन रही एकजुटता को तोड़ने के लिए अब निर्ममता से लगातार साजिशें रची जाएंगी। अभी से लेकर चुनाव

तक लगातार सर्कस चलता रहेगा जिसमें गिरफ्तारियां, हत्याएं, पीट-पीट कर हत्या, बम विस्फोट, फर्जी हमले, दंगे और नरसंहारों का दौर शुरू होगा। हमने चुनाव के माहौल को सभी तरह की हिंसाओं से जोड़ना सीख लिया है। डिवाइड एंड रूल (बांटो और राज करो) तो था ही, अब इसमें यह नया शब्द भी जोड़ दीजिए डायवर्ट एंड रूल (ध्यान भटकाओ और राज करो)। अभी से लेकर आने वाले चुनाव तक हमें पता भी नहीं होगा कि कब और कैसे हमारे ऊपर आग का गोला गिरेगा और उस अग्निवर्षा का रूप कैसा होगा। इसलिए इससे पहले कि मैं वकीलों और एक्टिविस्टों की गिरफ्तारी के बारे में बातें करूं- बस मैं कुछ दूसरी बातों को दुहराना चाहती हूं कि हमें अग्निवर्षा के बावजूद भटकना नहीं चाहिए, चाहे जितनी भी विचित्र घटनाओं का हमें सामना करना पड़े।

आठ नवंबर 2016 को जब प्रधानमंत्री मोदी ने टीवी पर नमूदार होकर देश के 80 फीसदी प्रचलित नोटों को एक झटके में बंद कर दिया, उस घटना को घटे एक वर्ष और नौ महीने हो गए हैं। ऐसा लगता है कि उनके उस फैसले से उनके कैबिनेट के मंत्री भी भौचक थे। अब भारतीय रिजर्व बैंक ने घोषणा की है कि 99 फीसदी से अधिक राशि बैंकों में वापस आ चुकी है। इंग्लैंड के गार्जियन अखबार ने 30 अगस्त को ही लिखा है कि इससे देश की अर्थव्यवस्था का एक फीसदी सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) घट गया है और लगभग 15 लाख नौकरियां खत्म कर दी गई हैं। इस बीच सिर्फ नए नोट को छापने में कई हजार करोड़ रूपए ऊपर से खर्च हो गए हैं। नोटबंदी के बाद माल और सेवा कर (जीएसटी) लागू कर दिया गया, जो नोटबंदी से जूझ रहे छोटे व मझोले व्यापारियों के लिए दूसरा बड़ा झटका था।

इससे छोटे व मझोले व्यापारियों और खासकर गरीबों को भारी नुकसान का सामना करना पड़ा है जबकि बीजेपी के करीबी कई निगमों ने अपनी संपत्ति में कई गुणा बढ़ोतरी कर ली है। विजय माल्या और नीरव मोदी जैसे व्यवसायियों को सरकार ने हजारों करोड़ों की सार्वजनिक संपत्ति को लेकर भाग जाने दिया और सरकार मूकदर्शक बनकर देखती रही।

इस तरह के क्रियाकलापों में हम किसी तरह की जवाबदेही की उम्मीद रखते हैं? कुछ नहीं? बिल्कुल शून्य?

इसी बीच, जब 2019 में लोकसभा चुनाव की तैयारी शुरू हो गई है, भारतीय जनता पार्टी सबसे अमीर राजनीतिक दल बन गई है। सबसे अपमानजनक यह है कि हाल ही में पेश किए गए चुनावी बॉड में यह कहा गया है कि राजनीतिक दलों को दान दिए गए चंदे का स्रोत पूरी तरह से गुप्त रखा जाएगा।

हम सभी को 2016 का मुंबई में 'मेक इन इंडिया' ईवेंट याद है जिसका उद्घाटन मोदी जी ने किया था और उस सांस्कृतिक महोत्सव में भीषण आग लग गई थी जिसमें उसका सबसे बड़ा पंडाल जलकर खाक

हो गया था। खैर, दरअसल 'मेक इन इंडिया' के आइडिया को राख बनाने वाली चीज राफेल लड़ाकू विमान का वह सौदा है जिसकी पेरिस में प्रधानमंत्री ने कदाचित अपनी रक्षामंत्री की जानकारी के बगैर ही घोषणा कर दी थी। यह घोषित शिष्टाचार के पूरी तरह खिलाफ है। हम मोटे तौर पर तथ्यों से वाकिफ हैं- कांग्रेसनीत यूपीए सरकार के तहत यह सौदा 2012 में ही किया जा चुका था जिसके तहत हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड की मदद से अपने ही देश में इसके कल-पुर्जों को जोड़ना था। इस सौदे को तो मोदी सरकार ने भंग कर दिया और इस सौदे का एक नया मसविदा तैयार किया गया। हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स, जो एक सरकारी कंपनी है- को अब इस सौदे से पूरी तरह गायब कर दिया गया है। कांग्रेस पार्टी के अलावा अन्य व्यक्तियों का, जिन्होंने इस सौदे का अध्ययन किया है- कहना है कि इसमें व्यापक पैमाने पर भ्रष्टाचार हुआ है और उन्होंने रिलायंस डिफेंस लिमिटेड के शामिल किए जाने पर सवाल भी उठाए हैं क्योंकि उसने आज तक कभी हवाई जहाज बनाया ही नहीं है।

विपक्ष ने संयुक्त संसदीय समिति से इस सौदे की जांच की मांग की है। क्या हमें इसकी अपेक्षा है? या फिर हमें अनिवार्यतः इन सभी जहाजों को बिना निगले ही पचा लेना चाहिए?

पत्रकार और एक्टिविस्ट गौरी लंकेश की हत्या में कर्नाटक पुलिस की जांच में कई लोगों की गिरफ्तारियां हुई हैं। इसके क्रियाकलापों से दक्षिणपंथी हिन्दूवादी संगठन सनातन संस्थान जैसे अनेकों कार्यों की जानकारी मिली है। इससे पता चलता है कि उनकी जड़ें इतना विस्तृत हैं कि उनके पास आतंक फैलाने का पूरी तरह से तैयार एक गुप्त नेटवर्क है, उनके पास हिटलिस्ट है, उनके छुपने-छुपाने की अपनी जगह है, हथियार है, गोला-बारूद है, हत्या करने की तैयारी है, बम लगाने की तकनीक है और जहरशुमारी का तरकीब भी है। ऐसे कितने संगठन हैं जिनके बारे में हमें जानकारी है? इस तरह के और कितने गुप्त संगठन काम कर रहे हैं? वे लोग इस बात से आश्वस्त होंगे कि उसे ताकतवर लोगों का वरदहस्त है और संभवतः पुलिस का संरक्षण भी प्राप्त है, उसने कितनी योजनाएं हमारे लिए बनाकर रखी हैं? कितने फर्जी हमले? असली कितने? ये कहां-कहां होंगे? कश्मीर में? अयोध्या में? या फिर कुंभ के मेले में? कितनी आसानी से वे किसी भी या सभी चीजों को- चाहे छोटा हो या बड़ा उत्पात मचाकर पालतू मीडिया घरानों की मदद से वे पटरी से उतार दे सकते हैं। इन असली खतरों से हमारा ध्यान भटकाने के लिए अभी की ये गिरफ्तारी की गयी हैं।

द्रुत गति से शैक्षणिक संस्थानों को नष्ट किया जा रहा है। बेहतर रिकार्ड वाले विश्वविद्यालयों को नष्ट किया जा रहा है और प्रेत की तरह सिर्फ कागजों पर मौजूद विश्वविद्यालय को महिमामंडित किया जा रहा है। तार्किक रूप से यह सबसे दुखदायी है। यह तरह-तरह से किया जा रहा है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) को देखते-देखते हमारी आंखों के सामने मिट्टी में मिलाया जा रहा है। वहां के

विद्यार्थियों और कर्मचारियों पर लगातार हमले हो रहे हैं। कुछ टीवी चैनलों ने झूठा और नकली वीडियो दिखाकर, दुष्प्रचार करके वहां के छात्रों की जिंदगी खतरे में डाल दिया है। उमर खालिद जैसे युवा स्कॉलर पर जानलेवा हमला हुआ क्योंकि उसके खिलाफ लगातार झूठ बोलकर उसे बदनाम किया जाता रहा। झूठे इतिहास और बेवकूफियों से भरे पाठ्यक्रम से हम इतने जाहिल हो जाएंगे कि हम उससे उबर ही नहीं पाएंगे। और अंत में, शिक्षा का निजीकरण किए जाने से, आरक्षण से मिले थोड़े बहुत लाभ का भी सत्यानाश किया जा रहा है। हम शिक्षा में फिर से ब्राह्मणवाद का प्रादुर्भाव देख रहे हैं, जिसपर कॉरपरेट का मुलम्मा चढ़ा हुआ है। दलित, आदिवासी और पिछड़े छात्र-छात्राओं को एक बार फिर से शिक्षण संस्थाओं से बाहर धकेला जा रहा है क्योंकि वे अब वे मंहगी फीस नहीं भर सकते हैं। यह शुरू हो चुका है। यह किसी भी रूप में स्वीकार्य नहीं है।

कृषि क्षेत्र में भीषण परेशानी, किसानों की आत्महत्या में लगातार बढ़ोतरी, मुसलमानों की पीट-पीटकर हत्या, दलितों पर हो रहे लगातार हमले, आम लोगों पर अत्याचार, सवर्णों के अत्याचार के खिलाफ तनकर खड़े होने की कोशिश करने वाले भीम आर्मी के नेता चंद्रशेखर आजाद की गिरफ्तारी, अनुसूचित जाति और जनजाति अत्याचार अधिनियम को कमतर करने का प्रयास। इन सबसे हमारा ध्यान भटकना नहीं चाहिए।

यह सबकुछ कहने के बाद मैं हाल में हुई गिरफ्तारियों पर बात करना चाहती हूं।

जिन पांच लोगों को गिरफ्तार किया गया है- वरनॉन गोनजाल्विस, अरुण फरेरा, सुधा भारद्वाज, वरवर राव और गौतम नवलखा- इनमें से एक भी व्यक्ति यलगार परिषद् की 31 दिसंबर 2017 को हुई रैली में उपस्थित नहीं था। वे लोग अगले दिन हुए उस रैली में भी नहीं थे जिसमें लगभग 3 लाख से अधिक लोग, जो अधिकतर दलित थे, शामिल हुए थे जो भीमा-कोरेगांव की 200वीं वर्षगांठ मनाने के लिए जमा हुए थे। (दलित ब्रिटिश हुकूमत के साथ मिलकर उत्पीड़क पेशवा के खिलाफ लड़े थे। कुछ गिनी-चुनी जीत में यह एक है जिसे उत्पीड़ित दलित गर्व के साथ मना सकते हैं)। यलगार परिषद् दो विशिष्ट सेवानृवित्त जजों- जस्टिस सावंत और जस्टिस कोलसे पाटिल द्वारा बुलाई गई थी। रैली के अगले दिन हिन्दुत्व के उग्रपंथियों द्वारा हमले किए गए, जिसके चलते कई दिनों तक वहां अशांति का माहौल रहा। इसके दो आरोपी मिलिन्द एकबोटे और संभाजी भिड़े हैं। दोनों अब भी बाहर हैं। उनके एक समर्थक द्वारा जनवरी 2018 में दर्ज कराई गई एफआईआर के बाद पुणे पुलिस ने पांच एक्टिविस्टों- रोना विल्सन, सुधीर ढावले, शोमा सेन, महेश राउत और वकील सुरेन्द्र गाडलिंग को गिरफ्तार कर लिया। उन लोगों पर आरोप है कि वे रैली के बाद हुई हिंसा के लिए जिम्मेदार हैं। साथ ही, वे लोग प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की हत्या की साजिश भी रच रहे थे। उन पर गैरकानूनी क्रियाकलाप रोकथाम अधिनियम के तहत मुकदमा चल रहा है

और वे अभी तक हिरासत में हैं। वे भाग्यशाली लोग हैं जो अभी भी जिंदा हैं क्योंकि इशरत जहां, सोहराबुद्दीन और कौसर बी के ऊपर भी यही आरोप लगाए गए थे, लेकिन उनमें से कोई भी अपने मुकदमे का ट्रायल देखने के लिए जिंदा नहीं रह पाया।

जो भी दल सत्ता में होते हैं चाहे वह कांग्रेसनीत यूपीए की सरकार हो या बीजेपी की सरकार हो- वे आदिवासियों और दलितों पर किए जा रहे हमले को माओवादी या नक्सली कहकर सही साबित करते हैं। मुसलमानों को चुनावी गणित से लगभग गायब कर दिया गया है लेकिन सभी राजनीतिक दल अब भी दलितों और आदिवासियों को वोट बैंक के रूप में देखते हैं। एक्टिविस्टों को गिरफ्तार करके, उन्हें माओवादी या नक्सली कहकर, सरकार दलित आकांक्षाओं को कमजोर और अपमानित कर रही है जबकि दूसरी तरफ सरकार ऐसा दिखा रही है कि वह “दलित मुद्दों” को लेकर संवेदनशील है। इस वक्त जब हमलोग यह बात कर रहे हैं, पूरे देश में हजारों गरीबों और वंचितों को जेल में डाल दिया गया है, जो अपने स्वाभिमान, हक और हुकूम की लड़ाई लड़ रहे थे- उन पर राजद्रोह के मुकदमे दर्ज किए गए हैं, जिसकी सुनवाई भी नहीं हो रही है और वे भीड़ भरी जेलों में सड़ रहे हैं।

जिन दस लोगों को सरकार ने गिरफ्तार किया है, जिनमें तीन वकील और सात मशहूर एक्टिविस्ट हैं, ऐसा कर के उसने हजारों लोगों को आशा और न्याय का प्रतिनिधित्व दिलाने से वंचित कर दिया है क्योंकि यही लोग उन मजदूरों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। वर्षों पहले, जब सरकार समर्थित गैरकानूनी फौजी जत्था सलवा जुद्धम बस्तर में आदिवासियों के पूरे के पूरे गांव को जला देता था, उनका कत्लेआम किया जा रहा था, तब छत्तीसगढ़ पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज- (पीयूसीएल) के महासचिव डॉक्टर बिनायक सेन ने पीड़ितों की आवाज को बुलंद किया था। जब बिनायक सेन को जेल में डाल दिया गया, तब सुधा भारद्वाज ने उस मसले को पुरजोर तरीके से उठाया था। वे वर्षों से उसी क्षेत्र में रहकर ट्रेड यूनियन चलाते हुए वकालत कर रही थीं। प्रोफेसर साई बाबा, जो बस्तर में अर्धसैनिक बलों द्वारा किए जा रहे अत्याचार की बात उठा रहे थे, उन्होंने बिनायक सेन के पक्ष में आवाज उठाना शुरू कर दिया। जब साईबाबा को गिरफ्तार कर लिया गया तब उनके पक्ष में रोना विल्सन खड़े हो गए। सुरेन्द्र गाडलिंग साईबाबा के वकील थे। जब रोना विल्सन और सुरेन्द्र गाडलिंग को गिरफ्तार किया गया तो उनके लिए सुधा भारद्वाज, गौतम नवलखा और दूसरे लोग खड़े हो गए... और यह गिरफ्तारियां ऐसे ही चले जा रही हैं।

सबसे कमजोर तबको की घेराबंदी की जा रही है और उनकी आवाज दबाई जा रही है। मुखर लोगों को कैद किया जा रहा है। भगवान बचाए इस देश को।

## एक ऐसा मनौवैज्ञानिक वातावरण तैयार किया जा रहा है जहां हर कोई गद्दार है!

प्रताप भानु मेहता

सुधा भारद्वाज जैसे मानवाधिकार के कुछ सर्वाधिक विश्वसनीय पैरोकारों के यहां छापामारी और उनकी गिरफ्तारी भयाक्रांत करने वाला एक क्षण है। यह एक ऐसी कायराना, उच्छ्रंखल और दमनकारी राज्यसत्ता की निशानदेही है जो असहमतों को धमकाने के लिए कोई भी तरीका अपना सकती है। इन मामलों के कानूनी और नागरिक आयामों पर काफी कुछ लिखा जा चुका है, लेकिन ये मुकदमे जिस ऐन वक्त में दायर किए गए हैं उसकी राजनीतिक और सांकेतिक अहमियत को नहीं नज़रंदाज़ किया जाना चाहिए। ये मुकदमे परस्पर स्वतंत्र नहीं हैं, बल्कि एक सर्वथा नए व खतरनाक विचारधारात्मक संकुल के गढ़न का हिस्सा हैं।

अतीत में तीन भयावह हकीकतों ने भारतीय राज्य की लोकतांत्रिक वैधता में अवरोध उत्पन्न किए हैं। खुद को यह याद दिलाते रहना कि यूएपीए और राजद्रोह से जुड़े अन्य कानूनों का लगातार दुरुपयोग किया गया है, महज यांत्रिक मामला नहीं है। इन कानूनों का अस्तित्व ही अपने आप में एक कलंक है। किसी भी राजनीतिक दल ने इनका विरोध करने का साहस आज तक नहीं जुटाया। दूसरे, जैसा कि हालिया प्रताडित व्यक्तियों में से एक आनंद तेलतुम्बड़े ने अपने लेखन में सटीक कहा है, इस राज्य ने भय पैदा करने की तकनीकों का इस्तेमाल उन लोगों का दमन करने में किया है जो आदिवासियों और दलितों जैसे हाशिये के समूहों की सबसे सक्रिय पैरोकारी करते रहे हैं।

स्थानीय संदर्भों में माओवादी बेशक आतंक का बायस हो सकते हैं लेकिन माओवाद का जैसा कपटपूर्ण प्रयोग हम करते हैं, उसके बहाने दरअसल अधिकारों पर हाशिये के समुदायों के वास्तविक दावों को अवैध ठहराने तथा उनके राजनीतिक प्रतिनिधित्व को राज्य के लिए खतरा बताकर उन्हें कलंकित करने का काम हम करते हैं। सत्ताधारी तबके को इससे एक आसानी भी हो जाती है कि वह दलितों और आदिवासियों के खालिस नैतिक दावों को अलगाकर उन्हें राज्य के लिए लगातार खतरे के रूप में दर्शा सकता है। जो राज्य असल नैतिक दावे और असल खतरे के बीच फ़र्क न कर पाए, वह खुद का ही नुकसान करेगा। तीसरे, कोई भी दल ऐसा नहीं है जो एक स्वतंत्र व विश्वसनीय पुलिसतंत्र के प्रति समर्पित हो अथवा कानून के तंत्र को वह काफ़का के अंधेरे दुःस्वप्न से बाहर निकालने की सोचता हो ताकि असली खतरों को बगैर राजनीतिकरण या पक्षपात के संबोधित किया जा सके। ये सब हमारी व्यवस्था पर चिरस्थायी दाग से हैं।

इस सामान्य पृष्ठभूमि के बरक्स कुछ विशिष्ट भी हैं जो हालिया घटनाक्रम में परिलक्षित होता है। मौजूदा हालात का सबसे ज्यादा चौंकाने वाला आयाम यह है कि ये गिरफ्तारियां और छापे कुछ और भयानक घटने का बहाना हैं: एक स्थायी आंतरिक युद्ध की पैदाइश। यह कहने का एक बहाना, कि यह राष्ट्र तो हमेशा खतरे में ही घिरा रहता है- पहले राष्ट्रविरोधियों से इसे खतरा हुआ, अब शहरी नक्सल से और क्या जाने आगे मनुष्यों से ही इसे खतरा पैदा हो जाए। शाश्वत खतरे में पड़े एक राष्ट्र का विचार दरअसल राज्यसत्ता को अत्यधिक अधिकारों से लैस करने का एक बहाना है। इसी बहाने से आप अपने

विरोधियों को गद्दार कह के निशाना बनाते हैं और ऐसी परिस्थितियां निर्मित कर देते हैं जहां एक ऐसे “मजबूत” नेतृत्व की अनिवार्यता अपरिहार्य बन जाए जो खतरे का सामना कर सकता हो।

भारत के सभी राजनीतिक दलों ने माओवाद को खतरा बताया है और कांग्रेस से लेकर तृणमूल तक सभी ने इसके खिलाफ अपने तरीके से कड़ा रुख अपनाया है। इस बार भी उनके खिलाफ अभियान चलाए जा रहे हैं और गिरफ्तारियां हो रही हैं, फिर भी कुछ तो है जो अलग है। इस बार एक विशाल दुष्प्रचार मशीनरी काम कर रही है जो इस खतरे को लगातार सियासी मैकार्थीवाद की शक्ल देने में जुटी है। इसका लक्ष्य एक ऐसा समाज बनाना है जहां हमें हर कहीं गद्दार दिखाई दें। सत्ता द्वारा देश चलाने के सियासी औजार के रूप में संदेह को स्थापित किया जा रहा है क्योंकि यही संदेह हमें एकजुट होकर राज्य को जवाबदेह करार देने से रोकेगा और हम बतौर नागरिक एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाएंगे।

यह कोई संयोग नहीं है कि इन खतरों की अतिरंजना तीन तरीके से हकीकत को सिर के बल खड़ा करने में काम आती है। ध्यान दीजिएगा कि मौजूदा गिरफ्तारियों के पीछे जो जांच है वह भीमा कोरेगांव से शुरू हुई थी। इस जांच के बहाने सरकार ने बड़े पैमाने पर नैतिकता और कानून को उलटने-पलटने का काम किया है, जहां उत्पीड़ित को अपराधी बताया जा रहा है जबकि अपराधियों को एक वैचारिक सरोकार का नायक बनाकर स्थापित किया जा रहा है। इस तथ्य से ध्यान हटाने की पर्याप्त कोशिश की जा रही है कि हिंदुत्व के नाम पर चीखने-चिल्लाने वाले समूह ही इस गणराज्य की संवैधानिक व्यवस्था के लिए सबसे हिंसक और गंभीर खतरा बन चुके हैं।

ये गिरफ्तारियां ऐन उस क्षण में हुई हैं जब इन समूहों पर बुद्धिजीवियों की संगठित हत्या करने का आरोप लग रहा था। एक गणराज्य के लिए इससे बेहतर क्या हो सकता है कि जब सामने कोई वास्तविक खतरा खड़ा हो तो उससे बड़ा को अतिरंजित खतरा सामने ला दिया जाए?

इस उत्क्रमण का दूसरा आयाम थोड़ा व्यापक है: धुवीकरण के रूप में। हम हमेशा से मानते आए कि धुवीकरण तो हिंदू-मुस्लिम मुद्दे से ही पैदा होता है। इसमें कुछ तत्व हैं, लेकिन एक और धुवीकरण जन्म ले रहा है जो सेकुलर लोगों को तुष्ट कर सकता है और ट्विटर पर तलवार भांज रहे हर शख्स को गौरव का बोध भी करा सकता है। इस धुवीकरण का औजार यह राष्ट्र है।

दिलचस्प बात है कि जिस सरकार ने अर्थव्यवस्था पर अपना सारा ध्यान देने का वादा किया था, वह अब चाहती है कि आम बहस-मुबाहिसों में इस पर बात ही न हो। वह चाहती है कि हम अर्थव्यवस्था के मोर्चे पर तो सरकार को खुली छूट दे दें जबकि इस देश के नागरिक राष्ट्रीय सुरक्षा का जिम्मा अपने हाथ में लेकर हर वकील के भीतर एक विध्वंसकारी को खोज निकालें, हर बुद्धिजीवी में संभावित आतंकवादी को तलाशें और प्रत्येक संवैधानिक दावे की तह में हिंसक क्रांति को सूँघ लें। उत्क्रमण का यह एक शानदार उदाहरण है।

उत्क्रमण का तीसरा बोध हमें वास्तविक सामाजिक आंदोलनों को खारिज करने के राज्य के प्रयासों में होता है। परंपरागत सामाजिक आंदोलन, मजदूर, किसान आदि के आंदोलन विरोधाभासी आर्थिक हितों और राजनीतिक धड़ेबाजी का शिकार होकर बिखरे हुए से दिखते हैं लेकिन दलित और आदिवासी आंदोलन अब

भी ज़मीन पकड़े हुए हैं। राज्य इन्हीं के ऊपर वैचारिक हमला कर रहा है ताकि इन्हें शांत कराया जा सके।

यह घोषित आपातकाल भले न हो और आंकड़ों के लिहाज से भी देखें तो मौजूदा दमन आपातकाल में हुए दमन के बरक्स कमज़ोर ही नज़र आएगा। दोनों में हालांकि एक फर्क है। आपातकाल विशुद्ध सत्ता का मामला था। आज जो हम देख रहे हैं वह कहीं ज्यादा प्रच्छन्न और कपटपूर्ण परिघटना है। एक ऐसा मनोवैज्ञानिक संकुल निर्मित किया जा रहा है जहां हर कोई गद्दार है। यह सत्ता केवल हमारी देह को कैद करना नहीं चाहती, बल्कि हमारी रूहों को भी कुंद कर देने की मंशा रखती है। वक्त का तकाज़ा है कि अब अदालतें और नागरिक समाज ही इस सत्ता को चुनौती दें।

**(राजस्थान पत्रिका से साभार)**

## पत्थरगढ़ी तो बहाना है, 'किष्किन्धा' असल निशाना है!

सत्यम श्रीवास्तव

हाल ही में झारखण्ड में पत्थलगढ़ी के समर्थन में फेसबुक पर पोस्ट लिखने और शेयर करने को अपराध मानते हुए बीस प्रबुद्ध नागरिकों पर राजद्रोह के मुकद्दमे दर्ज होना 'न्यू नार्मल' की श्रेणी की परिघटना मान ली गयी और इसे लेकर समाज की बड़ी जमात में कोई खास हलचल हुई नहीं। इसे अनदेखा भी किया गया, जैसा रोज़ होने वाली घटनाओं को किया जा रहा है। इसी मुद्दे को लेकर एक बैठक दिल्ली में 'अवार्ड' के दफ्तर में हुई जिसमें करीब 30 लोगों ने भागीदारी की। इस बैठक में झारखंड से पत्रकार, लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता विनोद कुमार भी उपस्थित रहे जो इन बीस आरोपितों में से एक हैं।

वरिष्ठ वकील प्रशांत भूषण ने कहा- "रोज़ एक से बड़ी एक घटनाएं हो रही हैं... इसे लेकर बहुत चिंता की बात नहीं है क्योंकि इस मुकद्दमे का कोई ठोस आधार नहीं है" . फिर भी यह परिघटना बल्कि आदिवासियों से जुड़ी हर छोटी-बड़ी घटना तमाम मुख्यधारा की चिंताओं व चिंतनों से उपेक्षित रह जाने के बावजूद सरकार नामक व्यवस्था का ध्यान ज़रूर खींच लेती है और त्वरित कार्यवाहियों को अंजाम देने की कोशिशें यह सन्देश तो देती ही हैं कि भले ही हम इस तरह की घटनाओं के लिए बहुत अभ्यस्त हो चुके हों और उदासीनता की हद तक इन पर ध्यान न दे रहे हों पर सरकारें इन्हें लेकर वाकई गंभीर हैं. असल सवाल भी यही है.

बीते छह महीनों में जिस तेज़ी से यह शब्द (पत्थलगढ़ी) अलग-अलग वज़हों से सुर्खियों में बना रहा है तो उसके पीछे केवल आदिवासी परम्परा का हवाला देना ठीक नहीं और इस निष्कर्ष पर अब पहुँच जाना जल्दबाजी नहीं कहलायेगा कि आदिवासी हलकों में पारंपरिक औजारों से एक नयी राजनैतिक लड़ाई की शुरुआत हो चुकी है. इस राजनैतिक लड़ाई के पीछे तमाम भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक परिस्थितियां हैं जो हाल के वर्षों में बलात पैदा की गयी हैं. इसलिए पत्थलगढ़ी केवल सांस्कृतिक, पारंपरिक सामुदायिक अभिव्यक्ति ही नहीं बल्कि राजनैतिक परिघटना है जिसका उभार हाल के दौर में आदिवासी बहुल क्षेत्रों में देखा जा रहा है. इस उभार को इतना महत्व शायद नहीं मिलता अगर इसकी प्रतिक्रिया में राजकीय दमन और हिंसात्मक कार्यवाहियां न हुई होतीं.

अलग-अलग नामों से विभिन्न राज्यों में शुरू हुए इस राजनैतिक आन्दोलन ने झारखण्ड व छत्तीसगढ़ की सरकारों को जल्दी ही प्रतिक्रियाएं देने के लिए मजबूर कर दिया और राज्य सरकारों की ओर से उठाये गए क़दमों की बौखलाहट ने भी इस धारणा को पुष्ट किया है कि मामला आदिवासियों की परंपरा व रूढ़ियों से अलग कुछ 'और' है. आखिर परम्परा के इस इज़हार में ऐसा क्या है जिससे राज्य सरकारें बैचने हुई हैं? जिनका आदिवासी संस्कृति और उनके दैनंदिन व्यवहार, आचार-विचार से मुख्तसर भी तारुफ़ है वे यह बता सकते हैं कि पत्थलगढ़ी तो इन समुदायों में आदिकाल से चली आ रही है. आर्यों के 'आगमन' से लेकर मुग़लों के 'आक्रमण' (सरकार द्वारा तय पाठ्यक्रम में हमें ऐसा ही पढ़ाया गया है) और अंग्रेजों के राज तक में इन समुदायों ने इन परम्पराओं का पालन किया है. फिर जब देश आज़ाद हुआ तब इन परम्पराओं को संविधान की पांचवीं अनुसूची में मान्यता भी मिल गयी. पांचवीं अनुसूची संविधान का अनिवार्य हिस्सा है यानी जिसके बिना भारत का संविधान पूरा नहीं माना जा सकता.

आजादी के बहतर साल में भी इनके पारंपरिक अनुष्ठानों पर 'लांछन' नहीं लगाने का संवैधानिक लोकाचार जारी रहा. इसी बहतरवें साल में ऐसा क्या हो गया कि संविधान प्रदत्त ये अधिकार सरकारों को चुभने लगे?

मुद्दे की कम गहराई में जाकर भी इसके दो करण स्पष्ट रूप से समझे जा सकते हैं –पहला और अनिवार्य से प्रमुख कारण तो है प्राकृतिक संसाधनों को इन समुदायों से “बलात” हड़पने की मंशा और कोशिश. “बलात” इसलिए क्योंकि हिन्दुस्तान के संविधान में एक भी ऐसा ठोस कानून नहीं है जो आदिवासी क्षेत्रों में आदिवासी समुदायों से उनके संसाधनों को हड़पने को वैधानिक आधार सरकार को देता हो. और ऐसा भी नहीं कि राज्य सरकारें इस बुनियादी तथ्य से नावाकिफ हों. सरकारें यह बात भली-भाँति जानती हैं कि अगर वैधानिक ढंग से संसाधन लेने की बात होगी तो यह संभव नहीं होगा. इसलिए जो इस “न्यू इण्डिया” का मूल मंत्र है ‘परसेप्शन’ और जिसके लिए पूर्ववर्ती सरकारों ने अपने दौर के कैपिटलिज्म की भाषा में ‘संसाधनों को सक्षम हाथों में देना कहा’ था और जिसकी बुनियाद पर नए उभरते मध्यवर्ग की उम्मीदों को पूरा समर्थन मिला था- उसे आदिवासियों के खिलाफ निर्मित करना. ऐसा तभी हो सकता है जब इन्हें उकसाया जाए या इनकी किसी भी अभिव्यक्ति को कुचलने की कोशिश की जाए ताकि खुशामदी मीडिया की पीठ पर सवार यह नेगेटिव परसेप्शन व्यापक रूप से प्रसार पाये और अंततः सरकारें अपने किये को कानूनसम्मत ठहरा सकें. खेल का नियम बदलना इसे ही कहते हैं. जहां सरकारें कानूनी रूप से बैकफुट पर थीं वो अब फ्रंटफुट पर खेल रहीं हैं और व्यापक समाज का समर्थन उन्हें मिल रहा है.

बात शुरू हुई थी ग्राम सभा की सर्वोच्चता पर और प्राकृतिक संसाधनों पर ग्राम सभा के स्वामित्व अधिकार से जो अब पहुँच गयी कानून व्यवस्था बनाये रखने पर. जब ग्राम सभाएं अपनी सर्वोच्च भूमिका का इज़हार कर रहीं थीं तो संविधान के लगभग सारे प्रावधान उनके पक्ष में थे, जिनमें संविधान की पांचवीं अनुसूची, ग्यारहवीं अनुसूची, 73वां संविधान संशोधन, पेसा कानून, सर्वोच्च न्यायालय का समता जजमेंट, वन अधिकार मान्यता कानून आदि शामिल थे. जब सरकार ने इनकी अभिव्यक्ति को कुचला तो आधार बन गया ‘इन्डियन पीनल कोड’ (भारतीय दंड संहिता) और जिसका अनुपालन सरकार को करना है. खेल के इस बदले हुए नियम को केवल प्राचीन और आदिम व्यवस्थाओं का हवाला देकर समझना नाकाफी होगा.

इस खेल को समझने का दूसरा सिरा हमें हिन्दू राष्ट्र या रामराज्य बनाने की राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की राजनैतिक संकल्पना में मिल सकता है. इसका संबंध सत्तासीन मौजूदा राजनैतिक दल, उनकी राजनैतिक विचारधारा और निर्मित सरकारों व संविधान के बीच के बुनियादी टकराव में है. यह आशंका इसलिए भी की जा सकती है क्योंकि हमारा देश अब रामराज्य की दिशा में अग्रसर है और इस रामराज्य की प्राथमिक विशेषताओं में सर्वोपरि है उत्तर भारत में निवासरत हिन्दुओं विशेष रूप से ‘विप्रवादी व्यवस्था’ से अलहदा किसी भी अन्य सामाजिक आचरण के प्रति घृणा और हिकारत की भावना को देश के हित में प्रतिष्ठित करना. इस नए बनते रामराज्य में सिवा सवर्ण हिन्दुओं (और स्पष्टतः द्विजों के) के किसी भी अन्य परम्परा को लांछित करना बहुत ज़रूरी है ताकि हिन्दू राष्ट्र की प्रतिष्ठा की जा सके. इसकी एक झलक मध्यकाल में हिन्दुओं के समन्वयकर्ता गोस्वामी तुलसीदास ने इस उद्घोष में की थी कि यह देश मलेच्छों के आतंक से ग्रसित हो गया है (मलेच्छासुक्रान्ता देश) और रामचरित मानस रचते हुए उन्होंने

एक राजनैतिक कार्यक्रम राम के माध्यम से दिया था. वह कार्यक्रम था रावण से अंतिम युद्ध से पहले किष्किन्धा को अपने नियंत्रण में लाना.

यह केवल भौगोलिक प्रस्तुतिकरण नहीं था कि अंतिम दुश्मन तक पहुँचने के रस्ते में तमाम दूसरे समुदाय मिलेंगे जिनके साथ नियंत्रण के संबंध स्थापित किया जाना ज़रूरी है. आज जब यह कहा जा रहा है कि नरेन्द्र मोदी के रूप में देश में छह सौ साल के बाद हिन्दू राज लौटा है तब राजनैतिक कार्यक्रम भी तो सिरे से बदल गया. धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, समानता, हक अधिकार, स्वायत्तता, मानवाधिकार वगैरह अब इस कार्यक्रम के तहत परिभाषित होंगे. सरल शब्दों में हिन्दू राष्ट्र या रामराज्य मतलब हिन्दू राज. हिन्दू राज मतलब हिन्दुओं के अधीन राज व्यवस्था. ठीक इसी समय आदिवासी समुदायों ने यह कहने की गलत चेष्टा कर दी कि वे हिन्दू नहीं हैं.

पत्थलगढ़ी कर रहे आदिवासी समुदाय न केवल अपने संसाधन बचाने की कोशिश कर रहे हैं बल्कि वे खुद को हिन्दुओं से अलग मानते हुए इस हिंदूवादी व्यवस्था का प्रतिकार भी कर रहे हैं. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को उसके इतिहास में यह पहली ऐसी चुनौती मिली है जो उनके अब तक किये गए प्रयासों पर पानी फेर सकती है. इसलिए इससे पहले कि हिन्दू राजा के पीछे निषाद, जामवंत, सुग्रीव, नल, नील और यहाँ तक कि हनुमान भी चलने से इनकार कर दें, यह एहतियात ज़रूरी है कि खूँटी या जशपुर में भड़की चिंगारी को तत्काल कुचल दिया जाए ताकि समूचे 'किष्किन्धा' को अपने नियंत्रण से बाहर हो जाने को बचाया जा सके.

इन दो मुख्य सिरों को पकड़ते हुए अगर हम इस राजनैतिक आन्दोलन को समझने की कोशिश करें और आदिवासियों के साथ एकजुटता दर्शाएँ, तो संविधान सम्मत आधुनिक लोकतांत्रिक समाज को बचाए रखने में बतौर स्वतंत्र नागरिक एक अहम भूमिका का निर्वहन कर सकेंगे.

## आरएसएस पर हमला करेंगे तो वह चुनाव प्रचार अभियान में बीजेपी को और जोरशोर से समर्थन देगा

वाल्टर एंडर्सन से बातचीत

कुछ ही लोग होंगे जो आरएसएस को वाल्टर के. एंडर्सन के जितना जानते हों, जिन्होंने पांच दशक से ज्यादा वक्त इस दक्षिणपंथी संगठन पर अध्ययन करने में बिताया है और श्रीधर दामले के साथ मिलकर एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम है *द आरएसएस: अ व्यू टु द इनसाइड*। जॉन्स हॉपकिंस यूनिवर्सिटी के स्कूल ऑफ एडवांस्ड इंटरनेशनल स्टडीज़ में प्रोफेसर एंडर्सन ने आउटलुक को दिए एक साक्षात्कार में आरएसएस की कार्यप्रणाली, उसके अतीत और भारतीय समाज व राजनीति पर उसके बढ़ते प्रभाव के ऊपर खुलकर बात की है। प्रस्तुत हैं बातचीत के कुछ अंश:

हाल में योरप के अपने दौर पर कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी ने आरएसएस की तुलना मुस्लिम ब्रदरहुड के साथ की थी। उन्होंने यह भी कहा था कि संघ का एजेंडा देश में आइएसआइएस जैसी परिस्थिति निर्मित करने का खतरा पैदा कर रहा है। आपको यह तुलना क्या वाजिब जान पड़ती है?

मैं पक्के तौर पर नहीं कह सकता कि यह तुलना किस संदर्भ में की गई थी लेकिन आसन्न चुनावों के मद्देनजर ऐसे आरोपों का एक महत्व है और ये एक राजनीतिक विमर्श को जन्म देते हैं। ऐसी चीजें वस्तुतः फसाद पैदा करने की संभावना रखती हैं। एक राजनीतिक बयान देने के लिहाज से ऐसे दावे अतिरंजित हैं- बिना तथ्य के दावे। चुनाव करीब आएं तो आप पाएंगे कि ऐसे अतिरंजित दावों में वृद्धि ही होगी। यह लोकतांत्रिक प्रक्रिया का एक अंग बन चुका है। यह परिघटना धीरे-धीरे बढ़ ही रही है। भारत जैसे एक विविध देश में ऐसे दावे अस्थिरता पैदा कर सकते हैं। अमेरिका की राजनीति भी अब ऐसी ही हो गई है। इतना राजनीतिक धुवीकरण पहले कभी नहीं देखा गया था।

**क्या आपको लगता है कि आरएसएस पर लगातार हमले से कांग्रेस को कोई लाभ होगा?**

मुझे नहीं लगता कि आरएसएस पर हमला करना सही राजनीति है। इसके उकसावे में आकर बीजेपी के चुनाव प्रचार अभियान में आरएसएस और जोरशोर से सहयोग करेगा। वैसे तो आरएसएस ने हमेशा ही बीजेपी की मदद की है, लेकिन उसकी संलग्नता के स्तर में इससे फर्क पड़ सकता है। अतीत में हमने देखा है कि जब-जब पार्टी के कामकाज को खतरा पहुंचा है, आरएसएस ने कहीं ज्यादा उत्साह के साथ बीजेपी का समर्थन किया है। ऐसा 2014 के चुनाव से पहले हुआ था और 1977 में इमरजेंसी के ठीक बाद हुआ, जब उसने जनता पार्टी के रूप में चुनाव लड़ा। दोनों ही मौकों पर आरएसएस चुनावों में पूरी तरह सक्रिय रहा। इसीलिए आरएसएस के खिलाफ भारी प्रचार उसे बीजेपी के पीछे अपनी पूरी ताकत झोंकने को प्रेरित कर सकता है। आज से पहले आरएसएस के मुद्दे पर कांग्रेस बहुत सतर्कता बरतती रही है। उसका व्यवहार आरएसएस के प्रति आज तक तकरीबन रूखा रहा है। मुझे अचरज होता है कि क्या इस व्यवहार में बदलाव लाना कोई रणनीतिक फैसला है। मैं निजी तौर पर इसमें कोई रणनीतिक मूल्य

नहीं देख पाता हूँ। क्या आपको लगता है कि कांग्रेस इस रणनीति को अपनाकर अधिसंख्य हिंदू आबादी को खुद से अलग-थलग करना चाहेगी? मैं नहीं जानता कि इससे हिंदू अलग-थलग होंगे या नहीं, लेकिन इस बात को मैं दोहराना चाहूँगा कि इसके चलते आरएसएस कहीं ज्यादा सक्रिय भूमिका में आ जाएगा। आरएसएस के नेताओं के साथ अपनी बातचीत के आधार पर जो जानकारी मुझे मिली है, वो यह है कि आरएसएस 2014 की तरह बीजेपी को चुनाव प्रचार में इस बार सहयोग देने के पक्ष में नहीं है लेकिन कांग्रेस अगर उस पर लगातार हमला करती रही तो यह रणनीति बदल सकती है।

**राहुल आरएसएस पर जीएसटी और नोटबंदी का विचार लाने के आरोप भी लगाते हैं। यह आरोप भी लगाते हैं कि वित्त मंत्रालय को विश्वास में लिए बगैर यह काम सीधे प्रधानमंत्री से करवाए गए। क्या आपको लगता है कि संघ परिवार का सरकार के ऊपर इतना ज्यादा प्रभाव है?**

आरएसएस के अनुषंगी संगठन भले नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करें लेकिन मैं यह नहीं मानता कि इनका जीएसटी या नोटबंदी के साथ कोई लेना देना होगा। यह समझने के लिए आपको विजयादशमी पर आरएसएस के सरसंघचालक मोहन भागवत के दिए भाषण को दोबारा सुनना चाहिए। हर साल विजयादशमी पर आरएसएस प्रमुख भाषण देते हैं जिसमें अगले वर्ष के लिए संघ के लक्ष्य और प्राथमिकताओं की रूपरेखा को गिनाया जाता है। आमतौर से यह भाषण सामान्य शब्दावली में ही होते हैं हालांकि सितंबर 2017 में दिया गया भागवत का संबोधन थोड़ा अलग था। यह एक नीतिगत भाषण था। यह नरेंद्र मोदी सरकार की नीतियों की आलोचना के साथ-साथ भारत के विकास से जुड़ी प्राथमिकताओं पर एक वक्तव्य भी था। भागवत जीएसटी को लेकर आलोचनात्मक थे और उन्होंने छोटे उद्योगों, व्यापारियों व स्वरोजगार में लगे लोगों को हो रही दिक्कतों का जिक्र किया था। भागवत ने किसानों की बदहाली का भी जिक्र किया था और न्यूनतम समर्थन मूल्य को अपनाए जाने की बात कही थी तथा फसल बीमा, मृदा परीक्षण और ई-विपणन जैसी मौजूदा योजनाओं के बेहतर क्रियान्वयन के बारे में कहा था। मैंने जॉन्स हॉपकिंस यूनिवर्सिटी में अपने एक सहयोगी को बगैर यह बताए हुए कि यह किसका भाषण है, भागवत का भाषण दिखाया था और उनसे उस पर राय मांगी थी। भाषण में मोदी सरकार की आलोचना और उस पर हमले को देखते हुए उन्हें लगा कि यह तो प्रधानमंत्री के किसी विपक्षी का भाषण होगा। जब मैंने उन्हें यह बताया कि मोहन भागवत ने ऐसा कहा है तो उन्हें काफी दिलचस्प लगा कि आरएसएस भी बीजेपी सरकार की इतनी आलोचना कर सकता है। इसीलिए जीएसटी पर राहुल के आरोपों का कोई मतलब नहीं बनता।

**आपने आरएसएस के अनुषंगियों के नीतिगत मसलों में लिप्त होने का जिक्र किया था।**

संघ के कोई 36 आनुषंगिक संगठन हैं। किसानों के हितों पर भारतीय किसान संघ बात करता है तो अमीर और गरीब के बीच में बढ़ती खाई व बढ़ते हुए उपभोक्तावाद पर भारतीय मजदूर संघ बात करता है। प्रधानमंत्री जब दावोस में थे कि भारत भूमंडलीकरण में अगुवा ताकत बन रहा है तभी स्वदेशी जागरण मंच ने एक आपत्ति दर्ज कराई थी। इसी तरह 16 अप्रैल 2018 को मुंबई में कारोबारी समुदाय के समक्ष दिए एक अन्य भाषण में भागवत में बीएमएस और एसजेएम जैसे अनुषंगी संगठनों के लिए मध्यस्थ की भूमिका निभाने का एक प्रस्ताव दिया था। ऐसा करते हुए उन्होंने दावा किया था कि

जीएसटी और नोटबंदी आर्थिक वृद्धि में बाधा पहुंचा रहे हैं तथा कमजोर तबकों को नुकसान पहुंचा रहे हैं।

**आपको क्या लगता है कि संघ जब इस तरह के मुद्दे उठाता है तो वह कोई अच्छी बात है या फिर वह ऐसा कर के राजकाज में कोई बाधा पहुंचाता है?**

ज्यादातर लोकतंत्रों में सवाल खड़े किए जाते हैं। आंतरिक बहस होती है, चर्चाएं होती हैं। यह सब लंबी दौड़ में हमेशा मदद करते हैं। इसके अलावा आरएसएस का सूचनातंत्र बीजेपी के मुकाबले या कहें कुछ एजेंसियों के मुकाबले भी बहुत तगड़ा है। वे लोग जमीन पर काम करते हैं और उन मुद्दों को समझते हैं जिनसे लोग नाखुश हो रहे हैं। वह ऐसी स्थिति में हैं कि सरकार को बता सकें कि क्या काम कर रहा है और क्या नहीं। आरएसएस किसी भी चुनाव सर्वेक्षण एजेंसी से बेहतर है। 2014 के चुनाव से पहले आरएसएस ने एक आंतरिक सर्वेक्षण किया था यह तय करने के लिए प्रधानमंत्री के उम्मीदवार के तौर पर मोदी का चयन किया जाए अथवा नहीं। स्वयंसेवकों के बड़ी संख्या में मोदी को वोट देने के बाद ही आरएसएस ने उन्हें समर्थन देने का फैसला लिया।

**क्या आपको लगता है कि राहुल गांधी जब आरएसएस पर सरकार के कामकाज में हस्तक्षेप करने और धुवीकरण पैदा करने का आरोप लगाते हैं तो वह गलत निशाना साध रहे होते हैं?**

मैं एक बात पक्के तौर पर कह सकता हूँ कि रोजगार और अर्थव्यवस्था सबसे बड़े मसले हैं। कांग्रेस को रणनीतिक रूप से इन पर अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए न कि आरएसएस को निशाना बनाना चाहिए। आरएसएस विरोधी रणनीति काम करने वाली नहीं है। नौकरियों का न होना सबसे बड़ा मुद्दा है। अमेरिका में भी उपचुनाव आ रहे हैं और वहां सबसे बड़ा मसला डोनाल्ड ट्रंप की नकारात्मक शख्सियत के साथ अर्थव्यवस्था का संकट होगा। यहां आपके पास ट्रंप की जगह आरएसएस है। भारतीय अर्थव्यवस्था भले 7.5 फीसदी की वृद्धि दर से दुरुस्त चल रही हो लेकिन इतना पर्याप्त नहीं है। प्रधानमंत्री मोदी को और ज्यादा आक्रामक होना चाहिए था। उन्होंने व्यवस्था में पर्याप्त उथल-पुथल अभी नहीं मचाई है। सरकारी योजनाओं का लक्ष्य गरीब हैं और यह भारतीय संदर्भ में जरूरी भी है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में आयुष्मान भारत योजना और गैस सिलेंडर से जुड़ी उज्ज्वला योजना जैसी तमाम चीजें जरूरी हैं। भारत में बराबरी लाने के लिए ऐसी योजनाएं अनिवार्य हैं। मुझे नहीं लगता कि कोई भी सरकार इन चीजों के बगैर आगे बढ़ सकती है। हर सरकार को गरीबों का ख्याल रखना ही होगा।

**हमेशा से एक धारणा यह रही है कि आरएसएस छद्म तरीके से काम करता है। क्या आपको लगता है कि जिस तरीके से पूर्व राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी और उद्योगपति रतन टाटा ने खुलेआम आरएसएस के साथ संलग्नता दिखाई है, वह इस धारणा में कुछ बदलाव ला पाएगा?**

ऐतिहासिक रूप से देखें हैं तो RSS अपने काम का प्रचार करने में हमेशा से संकोच करता रहा है, फिर वह अच्छे काम ही क्यों ना हो जैसा कि अभी केरल की बाढ़ में वह राहत कार्य कर रहा है और पहले आंध्र प्रदेश में ही उसने ऐसा ही किया है, जहां लाशों को हटाने में उसने तब मदद की जब सामने कोई नहीं आया था। दरअसल आजादी के बाद जो कुछ भी हुआ, मसलन जब संगठन पर प्रतिबंध लगाया गया, उसके बाद से ही वह ज्यादा अंतर्मुखी हो गया और सार्वजनिक प्रचार से दूर रहने लगा।

अब हालांकि संगठन खुल रहा है और दूसरों से संवाद कर रहा है जो कि अच्छी बात है। जहां तक भागवत के साथ प्रणब मुखर्जी के मंच साझा करने का सवाल है, तो एक लोकतंत्र में इसे स्वस्थ कहा जाएगा। सियासी दड़बे बनाना और पाले खींचना अच्छी बात नहीं है। लोगों को एक दूसरे से बात करनी चाहिए वरना लोकतंत्र में दरार पड़ जाती है। पूर्व राष्ट्रपति ने जिस किस्म की सभ्यता और शिष्टता दिखलाई, उसे भारतीय राजनीति में प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। प्रधानमंत्री ने अपने भाषण में कहा था कि हमें एक दूसरे के प्रति सहिष्णु होना चाहिए। BJP को भी यह संदेश अपने भीतर आत्मसात करने की जरूरत है।

**ज्यादा सहिष्णु होने के अलावा आरएसएस और बीजेपी के समक्ष आने वाले वर्षों में आपको और क्या चुनौतियां दिखाई पड़ती हैं?**

पहली चुनौती तो यही है कि कैसे हिंदू धर्म के भीतर जातिगत अस्मिताओं और हिंदुत्व के भीतर जातिविहीन रुझान के बीच मौजूद तनाव से निपटा जाए। दूसरी चुनौती छद्म समूहों की कार्रवाइयों से निपटने की है और आखिर में भारत की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के भीतर शहरी और ग्रामीण के विभाजन को संबोधित करने की है।

**(साभार: आउटलुक )**

## हाशिये की बात

### कासगंज का सच: स्वतंत्र जांच दल ने उठाए पुलिस पर सवाल

बीती 29 अगस्त को दिल्ली के कांस्टीट्यूशन क्लब में कासगंज हिंसा को लेकर एक स्वतंत्र जांच रिपोर्ट जारी की गई। इस रिपोर्ट को वरिष्ठ पत्रकार अजित साही के नेतृत्व में तैयार किया गया है जिस पर कई जन और मानवाधिकार संगठनों की मुहर है। यह रिपोर्ट बताती है कि कैसे गणतंत्र दिवस पर हुए इस दंगे को लेकर पुलिसिया कार्रवाई पक्षपात से भरी रही और तमाम बेगुनाह आज भी बेवजह जेल में सड़ रहे हैं। इस रिपोर्ट में पूरी घटना के दौरान और बाद में पुलिस की भूमिका पर गंभीर सवाल उठाए गए हैं।

गणतंत्र दिवस यानी 26 जनवरी, 2018 को दिल्ली से 220 किलोमीटर दूर उत्तर प्रदेश के कासगंज शहर में सांप्रदायिक दंगा भड़क उठा था। हिंसा और आगजनी के अलावा फायरिंग भी हुई, जिसमें गोली लगने से एक शख्स की मौत हो गई। पुलिस के मुताबिक, उस दिन जब कुछ हिंदू युवक मोटरसाइकिल पर सवार होकर तिरंगा यात्रा निकाल रहे थे तो कुछ मुसलमानों ने उस यात्रा में बाधा पहुंचाई और इसके बाद हिंसा भड़क गई। इसके बाद पुलिस ने 28 मुसलमानों को आरोपी बनाया और दो हफ्ते के भीतर अधिकतर को गिरफ्तार भी कर लिया।

ये स्वतंत्र जांच रिपोर्ट कहती है कि पुलिस ने इस मामले में हिंसा के लिए जिम्मेदार हिंदुओं को बचाव किया और बेगुनाह मुसलमानों को फंसा दिया। जांच रिपोर्ट कहती है कि मोटरसाइकिल रैली में शामिल कई लोग सीएम योगी आदित्यानाथ की पार्टी बीजेपी से जुड़े थे। कई के फ़ेसबुक पेज से जाहिर होता है कि वे मुस्लिम विरोधी हैं और हिंदुत्ववादी सांप्रदायिक कट्टरता का व्यवहार करते हैं। रिपोर्ट में कहा गया है कि उस मोटरसाइकिल रैली में भाग लेने वाले लोगों की राजनीतिक और संगठनात्मक पृष्ठभूमि की जांच करने की कोशिश नहीं की गई।

एफआईआर में चार मुसलमानों को नामजद करने के कुछ मिनट बाद ही 24 और मुसलमानों के नाम दे दिए गए। इन 24 मुसलमानों के नाम आखिरकार कहां से और कैसे मिले, यह नहीं बताया गया। आगे चलकर इन मुसलमानों में से ज्यादातर को मृतक 19 वर्षीय चंदन गुप्ता की हत्या का आरोपी बना दिया गया।

रिपोर्ट में बताया गया है कि तमाम पुलिसवालों और चश्मदीद गवाहों ने अपने बयान में कहा कि रैली में शामिल लोगों ने गोलीबारी की और मुसलमानों के घरों, दुकानों और मस्जिदों में आगजनी और तोड़-फोड़ की गई। लेकिन उन्हें गिरफ्तार करना तो दूर उनकी जांच-पड़ताल तक नहीं की गई।

रिपोर्ट में उत्तर प्रदेश सरकार के सामने 6 मांगें रखी गई हैं:

- भ्रष्ट चार्जशीटों के नाम पर चलाए जा रहे मुकदमे वापस लिए जाएं
- इलाहाबाद हाई कोर्ट में याचिका दायर कर हाई कोर्ट की देख-रेख में घटना की स्वतंत्र पुलिस जांच कराई जाए
- दंगा न होने देने में और दंगा होने के बाद बढ़ने से रोकने में पुलिस और प्रशासन की नाकामी की उच्च स्तरीय जांच हो
- जांच को भ्रष्ट किए जाने में और बेगुनाह मुसलमानों को फंसाए जाने में जिम्मेदारी तय करने के लिए उच्चस्तरीय जांच हो
- मुसलमानों पर लगाए गए झूठे आरोप वापस लेकर उनको रिहा किया जाए
- मोटरसाइकिल रैली में शामिल लोगों को गिरफ्तार किया जाए और हिंसा में उनकी भूमिका की जांच हो

## दलित से शादी करके क़त्ल हुई ममता की अंतिम यात्रा में परिजन नहीं, महिलाएं आईं साथ

उसका नाम ममता था, उसने एक दलित युवक से प्रेम किया और फिर शादी भी कर ली। नतीजा जातिघृणा में डूबी हुई गोलियों ने उसका सीना छलनी कर दिया। घर वालों ने लाश से भी रिश्ता नहीं रखा। दो दिन तक शव मुर्दाघर में पड़ा रहा, फिर सामने आईं वे महिलाएँ जिन्होंने जाति और धर्म की बेड़ियों को तोड़ने का संकल्प लिया है। उन्होंने ममता की अर्थी को कंधा दिया और अंतिम संस्कार के वक्त नारा लगाया- शहीद ममता अमर रहे!

जाट घर में पैदा हुई ममता ने अगस्त 2017 में एक दलित युवक से विवाह कर लिया था। घर वाले इससे बहुत नराज़ हुए और उन्होंने लड़के और घर वालों के खिलाफ़ अपहरण का मुकदमा दर्ज करा दिया। घरवालों ने ममता के नाबालिग होने का दावा भी किया। पुलिस ने लड़के और उसके पिता को गिरफ्तार कर लिया लेकिन जब ममता अदालत में मर्जी से शादी करने की बात पर डटी रही तो उसे करनाल के शेल्टर होम भेज दिया गया। 8 अगस्त को वह दारोगा नरेंद्र कुमार की सुरक्षा में अदालत से वापस आ रही थी जब हमलावरों ने गोली चलाई जिसमें ममता के साथ-साथ दारोगा की भी मौत हो गई। हत्या का आरोप उसी पिता पर है जिसने ममता को गोद लिया था। लेकिन न इस परिवार ने और न ममता के जैविक परिवार ने ममता का शव स्वीकार किया। दो दिन मुर्दाघर में पड़े रहने के बाद शव एडीएम ने 'रिसीव' किया।

ममता की सम्मानजनक विदाई का बीड़ी हरियाणा के महिला संगठनों ने उठाया। जनवादी महिला समिति की तमाम कार्यकर्ताओं ने ममता के अंतिम संस्कार में शामिल होकर उसे सामाजिक क्रांति के मोर्चे पर हुई शहीद बताया। समिति की राष्ट्रीय सचिव जगमति सांगवान ने कहा कि बेटियों की हत्या को 'ऑनर किलिंग' कहना बंद किया जाए, यह सीधे तौर पर हत्या है जिसकी सज़ा मिलनी चाहिए।

वहीं महिला आयोग की अध्यक्ष प्रतिभा सुमन ने कहा कि इस तरह की हत्या में सीधे फाँसी का प्रावधान होना चाहिए।

अंतिम संस्कार के वक्त 'शहीद ममता अमर रहे' के नारे भी लगे। लाल रंग के कपड़े में लिपटे ममता के शव पर संगठनों की ओर से पुष्प चक्र भी चढ़ाया गया।

प्रशासन ने अंतिम संस्कार की रस्में पूरी कराने के लिए ममता के चचेरे भाई को बुलाया था जबकि ससुराल पक्ष के कुछ लोग भी मौजूद थे। रजिस्टर में भी ममता के पति का नहीं, पिता का नाम लिखा गया। आरोप है कि जेल में बंद ममता के पति ने अंतिम संस्कार करने की इजाज़त माँगी थी लेकिन प्रशासन तैयार नहीं हुआ।

## मलयाली लेखक एस. हरीश के समर्थन में इंडियन राइटर्स फोरम का संयुक्त बयान

हमारी सांस्कृतिक बिरादरी पर एक बार फिर गिरोहों का हमला हुआ है। अपने परिवार के खिलाफ हिंसक धमकियों की प्रतिक्रिया में मलयालम के लेखक एस. हरीश ने अपना उपन्यास मीसा (मूँछ) वापस ले लिया है जो धारावाहिक के रूप में मातृभूमि साप्ताहिक अखबार में प्रकाशित हो रहा था। उनका कहना है कि वे अब इसे तभी प्रकाशित करेंगे जब "माहौल अनुकूल होगा"।

'मीसा' हरीश का पहला उपन्यास है। हरीश को लघु गल्प के लिए केरल का साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया जा चुका है। इस उपन्यास के शुरुआती तीन अध्याय साप्ताहिक पत्र मातृभूमि में धारावाहिक रूप में छपे थे जिसके चलते सुधी पाठकों की उम्मीद काफी बढ़ गई थी। इसके बाद ही दक्षिणपंथी गिरोहों ने लेखक के खिलाफ प्रचार अभियान शुरू कर दिया जैसा कि हमने हाल के वर्षों में देखा है।

हरीश के ऊपर "धार्मिक भावनाओं को आहत" करने और "हिंदुओं को बदनाम" करने का आरोप लगाया गया। उन्हें धमकी दी गई कि "उन्हें सबक सिखाने के लिए" उनका हाथ काट दिया जाएगा। सोशल मीडिया पर उनके साथ गाली-गलौज की गई और धमकियां दी गईं जिसके चलते उन्होंने अपने अकाउंट बंद कर दिए। उनके परिवार के सदस्यों को बुरी तरह ट्रोल किया गया। साप्ताहिक पत्र की प्रतियां जलाई गईं जिसके कारण संपादक को ट्वीट करना पड़ा कि साहित्य की माँब लिचिंग की जा रही है।

हरीश पर हमले का संदर्भ उपन्यास के एक किरदार द्वारा महिलाओं के मंदिर जाने को लेकर की गई टिप्पणी है। यह उस किरदार का कथन था, लेखक का नहीं और धारावाहिक के प्रकाशन के साथ अभी तो पात्रों को स्थापित करने का काम ही शुरू हुआ था। ऐसे तोड़-मरोड़ कर किए जाने वाले पाठ से खतरा पैदा होता है कि फिर सारे सिनेमा, साहित्य और कलाओं पर ऐसा ही हमला संभव है। इसके अलावा, अगर उपन्यास से किसी को असहमति है तो इसका मतलब यह नहीं कि लेखक को प्रताड़ित किया जाए। हमारी विविध सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों पर हमला करने वाले गुंडे चाहते हैं कि हम एक नहीं कई उपन्यासों से महरूम रह जाएं।

केरल के कई लेखकों ने हरीश के साथ एकजुटता दिखाई है। लेखक और पाठक सहित एक लोकतंत्र का नागरिक होने के नाते हम माहौल के बदलने का इंतज़ार नहीं करते रह सकते। देश के सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण हम लेखक और कलाकार ही करते हैं, सांप्रदायिक नेता नहीं। हमें इस बात पर ज़ोर देना होगा कि इस विविधतापूर्ण समाज की अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अनिवार्य है, समाज की मौजूदा और अतीत की दरारों की पड़ताल के लिए आलोचनात्मक सोच की ज़रूरत है और इनके लिए ज़रूरी है कि हम संविधान द्वारा दिए गए अधिकारों का प्रयोग करें।

हम पेरुमल मुरुगन की कहानी का दुहराव नहीं होने दे सकते जब लेखक ने दबावों के चलते अपने भीतर के रचनाकार की मौत का एलान कर दिया था। हाल ही में केरल के कवि करीप्पुझा श्रीकुमार और देश के अन्य हिस्सों में लेखकों पर जिस तरीके का हमला हुआ है, हम ऐसे और हमले स्वीकार नहीं कर सकते। यह फेहरिस्त बढ़ती जा रही है। सांस्कृतिक बिरादरी में हम अपने साथियों से अपील करते हैं कि वे दक्षिणपंथी गिरोहों के आतंक के भय से खुद को आत्मप्रतिबंधित करने से बचें। हम केंद्र सरकार और

राज्य सरकार का आह्वान करते हैं कि वे लेखकों और कलाकारों को उनका काम करने के लिए सुरक्षित माहौल मुहैया करवाएं।

किसी भी लेखक को उसकी कलम रख देने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। कोई भी लोकतंत्र, कोई भी संस्कृति जिंदा नहीं रह सकती यदि उसके लेखकों को शांत करा दिया गया। यही वजह है कि हमारे पास जितने भी शब्द हैं, उनके सहारे हमें लेखकों को आत्मप्रतिबंध में धकेले जाने के खिलाफ लड़ाई लड़नी होगी।

के. सच्चिदानंदन, गीता हरिहरन, रोमिला थापर, पॉल ज़कारिया, नयनतारा सहगल, एनएस माधवन, टीएम कृष्णा, पेरुमल मुरुगन, शशि देशपांडे, किरन नागरकर, गणेश देवी, केकी दारुवाला, सुनील पी. इलायिडम, केपी रामुन्नी, सेतु, हंसदा सौवेंद्र शेखर, ऋतु मेनन, जेरी पिंटो, चंदन गौड़ा, आतमजीत सिंह, आर्शिया सत्तर, दामोदर मौज़ो, रफीक अहमद, मीना अलेक्जेंडर, मनोज कुरुर, रुबिन डीक्रूज़, डोना मयूरा, मेघा पानसारे, शेखर पाठक, संदेश भंडारे, बनानी चक्रवर्ती, अजित मगदुम, माधव पालशिकर, वीनू अब्राहम, प्रमोद मुंगाटे, प्रमोद निगुडकर, श्रीलता के, अरुंधती घोष, कविता मुरलीधरन, शांता गोखले

सिनेमा

## मुल्क के बहाने : नेहरू के देश का मज़

जावेद नक़वी

मेरे तकरीबन सभी दोस्तों ने मुल्क की सराहना की है कि वह एक दमदार मूवी है। मैं अब भी उसके उद्देश्य पर बहस किए जा रहा हूँ। कहानी यों है कि बनारस के एक मोहल्ले में रहने वाले मुस्लिम बुजुर्गवार मुराद अली मोहम्मद का सबसे छोटा भतीजा बम धमाके में शामिल पाया जाता है। इसके घटना के बाद वे हिंदू पड़ोसी इस परिवार के खिलाफ़ हो जाते हैं जो कभी मिलनसार थे। अब मुस्लिम परिवार को साबित करना है कि वह राष्ट्रविरोधी नहीं है।

इस देश में सांप्रदायिकता की जड़ें आतंकवाद से सदियों पुरानी हैं। उदाहरण के लिए कवि भूषण के ज़हरीले पदों को लिया जा सकता है। हाल के दिनों में एक मुस्लिम अभिनेत्री ने कहा कि उसके नाम की वजह से उसे मुंबई में एक मकान बेचने से मना कर दिया गया। यह परिघटना बहुत व्यापक है।

नेहरू ने मुख्यमंत्री गोविंद बल्लभ पंत को 17 अप्रैल, 1950 को गुस्से में एक खत लिखा था: "... आमशुदा मंज़र और छिटपुट घटनाओं की जैसी रिपोर्ट मुझे मिल रही है, उससे अहम घटनाओं के बरक्स ज़मीनी हालात कहीं ज्यादा ज़ाहिर होते हैं। एक मुसलमान शहर की सड़क पर चले जा रहा है। कोई पीछे से उसका कंधा ठोकता है और उसे पाकिस्तान चले जाने को कहता है या उसे एक थप्पड़ जड़ देता है या फिर उसकी दाढ़ी नाँच लेता है। मुसलमान औरतें सड़क से गुज़रती हैं तो उनके ऊपर अश्लील फब्तियां कसी जाती हैं और अकसर ही यह उलाहना दी जाती है कि 'पाकिस्तान चली जाओ'। हो सकता है ऐसा करने वाले एकाध व्यक्ति हों लेकिन सच यह है कि हमने एक ऐसे माहौल को बनने दिया है जो इस किस्म की चीज़ों को होने देता है और हम उसे देखकर स्वीकृति दिए चले जाते हैं।"

सतह पर देखें तो यह फिल्म एक भारतीय रिहाइश में हिंदू और मुस्लिम समुदाय के बीच भरोसे के बारे में जान पड़ती है। दूसरी ओर, यह कहानी पहले से मौजूद उस सुप्त दुराग्रह के बारे में भी हो सकती थी जिसका हवाला नेहरू देते हैं, लेकिन ऊपर से दिखने वाली सहज मिलनसारिता के चक्कर में पड़ कर यह फिल्म गलती से दोनों समुदायों के बीच के भरोसे पर जा टिकती है।

यह खुशगवारी तब टूटती है जब लड़का एक बस को बम धमाके से उड़ा देता है और घटना का समूचा आख्यान गढ़ने का काम टीवी चैनल करते हैं। एक मुसलमान पुलिस अफसर लड़के को गोली मार देता है जबकि वह उसे गिरफ्तार भी कर सकता था। उसके पिता पर उससे मिले होने का आरोप लगा देता है। यह एक दिलचस्प नज़रिया है कि एक मुसलमान पुलिस अफसर खुद को कैसे बादशाह के प्रति ज्यादा वफ़ादार साबित करने की कोशिश कर रहा है। यहां एक ऐसी हकीकत छुपी हुई जिससे हम अनजान हैं। वह हकीकत क्या है? क्या भरोसा टूट चुका है, जैसा कि फिल्म कहती है या फिर कोई गहरा अविश्वास पहले से था जो अचानक एक घटना से सुलग उठा, जैसा कि हिंदू पड़ोसियों की हलकी-फुलकी दिल्लगी के काफी आसानी से बिखर जाने में ज़ाहिर हो रहा है?

एक और असामान्य लेकिन दिलचस्प वाक्या मुसलमान परिवार में हिंदू बहू का होना है, जो पेशे से वकील है और लड़के के निर्दोष पिता की पैरवी करती है जिसे षडयंत्र का आरोपी बनाया गया है। अदालत के भीतर सरकारी वकील जब-जब सांप्रदायिक और मुसलमान-विरोधी दलील देता है, वहां बैठे लोग वाहवाह करने लग जाते हैं।

एक बार फिर नेहरू का पैगाम देखिए। लड़के का बाप अपने ऊपर लगे अपमानजनक आरोप को बरदाश्त नहीं कर पाता और हिरासत में उसकी मौत हो जाती है। अंत में हालांकि जज उसे निर्दोष करार देता है, जिसका श्रेय हिंदू बहू की कानूनी दलीलों को जाता है। अदालत में बैठे लोगों को जज उनकी मुसलमानों विरोधी अंध-धारणाओं पर आड़े हाथों लेता है। जज के फैसले के बाद हिंदू पड़ोसी शर्मिंदा जान पड़ते हैं।

आज़ाद भारत में मुसलमानों की तंगहालत पर एक से एक बेहतरीन फिल्में बनी हैं। जो तुरंत याद पड़ती हैं उनमें एमएस सथ्यू की गरम हवा, श्याम बेनेगल की मम्मो, सईद मिर्जा की नसीम और हंसल मेहता की शाहिद हैं। और भी हो सकती हैं लेकिन ये चार बहुत संजीदा फिल्में थीं जिनके भीतर जबरदस्त सेकुलर संदेश पैबस्त था। हर एक के कथानक की पृष्ठभूमि बिलकुल साफ़ थी।

गरम हवा में मुल्क के तकसीम होने से लगा सदमा था तो मम्मो इसका एक दूसरा ही संस्करण थी। नसीम में नेहरूवादी भारतीयता के ध्वंस का संदेश बाबरी विध्वंस की घटना से निकला था। शाहिद हिंदू चरमपंथियों के हाथों एक मुसलमान वकील की हत्या की कहानी है जो आतंक के नाम पर झूठे मुकदमों में कैद किए गए नौजवानों के मुकदमे लड़ता है। मुल्क की तरह यह भी सच्ची घटना पर आधारित फिल्म थी।

एक और फिल्म थी धर्मपुत्र, जो भारत में मुसलमानों की स्थिति पर बनी वाकई सच्ची फिल्म थी। इसमें हिंदुत्व और उसकी मानसिकता पर बिलकुल सामने से वार किया गया था, और यह 1961 की बात रही। इस फिल्म को आज दिखाया जाना जोखिम भरा काम होता लेकिन बीआर चोपड़ा की यह फिल्म नेहरू के जीते जी आसानी से रिलीज़ हो गई। संघ की कट्टरता और उसके मुस्लिम विरोधी सनक पर बनी फिल्मों में यह सर्वाधिक आलोचनात्मक फिल्म रही। मुल्क में बुजुर्ग मुराद अली का किरदार निभाने वाले ऋषि कपूर के चाचा शशि कपूर इस फिल्म में विभाजन में बिछड़े एक मुस्लिम दंपति की अनचाही संतान के किरदार में हैं, जिसे उस दंपति के हिंदू डॉक्टर मित्र और उसकी पत्नी ने पाला-पोसा है। कपूर का किरदार बड़ा होकर मुसलमानों से नफ़रत करने वाला कट्टर हिंदुत्ववादी बनता है।

ज़ाहिर कारणों से चर्चाओं के बाहर रहने वाली यह बेहतरीन फिल्म यश चोपड़ा ने निर्देशित की थी। चोपड़ा बंधु विभाजन के बाद लाहौर से आए थे। भारत के सांस्कृतिक ताने-बाने के भीतर धर्मनिरपेक्षता को कायम रखने में इन्होंने बहुत बड़ा योगदान दिया है।

मुल्क के साथ दिक्कत यह है कि यह फिल्म भ्रामक संदेश देती है- कि यदि आतंकवाद की वह असामान्य घटना न घटी होती तो कोई भी मुसलमान परिवार अपने खुशगवार हिंदू पड़ोसियों की सरपरस्ती में अमन-चैन के साथ जी सकता था। फिल्म में आखिर इस देश के एक फासीवादी राज्य में तब्दील होते जाने का कोई जिक्र क्यों नहीं है? आखिर लड़का आतंकवादी क्यों बना? यह नौजवान आतंकी

इतना आक्रोशित क्यों था? बेरोज़गारी? पुलिस के जुल्म? अयोध्या? गुजरात? कश्मीर? या फिर उसे कोई मसीहाई इलहाम हुआ था कि किसी जंग में एक नामुमकिन फ़तह के लिए उसे किसी काल्पनिक जनता की अगुवाई करनी है? या फिर अगले जन्म को सुधारने की यह कोई कवायद रही?

इनमें से हर एक सवाल पर एक फिल्म बनाई जा सकती है। मसलन, कश्मीरी पृष्ठभूमि में हेमलेट की तर्ज पर बनी हैदर एक ईमानदार और साहसिक मूवी थी। भारत नाम के मुल्क की दिक्कतों पर बात करने वाले तमाम सामान्य लोगों व ढेरों बौद्धिकों की तरह मुल्क के निर्देशक की नीयत भी दुरुस्त है। फ़र्क बस एक बात से पड़ता है, जिसे ऐसे ही एक अदीब ने कभी इन शब्दों में कहा था, "मैंने जब भूखों को खाना खिलाया, तब उन्होंने मुझे संत कहा। मैंने जब पूछा कि वे भूखे क्यों हैं, तो उन्होंने मुझे कम्युनिस्ट करार दिया।" दरअसल, वह दूसरा सवाल है जिसे मुल्क में पूछा जाना था, तब शायद यह फिल्म हमें थोड़ा ज्यादा राज़ी कर पाती।

**(साभार: मीडियाविजिल)**

## स्मृतिशेषः समीर अमीन

प्रख्यात मार्क्सवादी चिंतक और अर्थशास्त्री समीर अमीन बीते 13 अगस्त को पेरिस में गुजर गए। उनका जन्म काहिरा में 3 सितंबर, 1931 को हुआ था। उनके पिता मिस्र के थे और उनकी मां फ्रेंच थीं। उनकी शुरुआती पढ़ाई-लिखाई मिस्र में ही हुई। आगे की पढ़ाई पेरिस से करते हुए उन्होंने राजनीतिक अर्थशास्त्र में डॉक्टरेट की उपाधि ली। छात्र जीवन से ही वे समाजवाद से सरोकार रखते आए थे। बहुत जल्द वे मिस्र की कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य बन गए। उन्होंने 1957 से 1960 के बीच काहिरा के इंस्टिट्यूट फॉर इकनॉमिक मैनेजमेंट में काम किया। फिर नासिर की तानाशाही में कम्युनिस्टों के दमन के चलते उन्हें देश छोड़कर जाना पड़ा। वे सेनेगल के डकार में जा टिके। वहां वे यूएन अफ्रीकन इंस्टिट्यूट ऑफ इकनॉमिक डेवलपमेंट के निदेशक रहे और बाद में थर्ड वर्ल्ड फोरम के अफ्रीकी कार्यालय के निदेशक बने।

अपने समकालीन ज्यादातर मार्क्सवादी बौद्धिकों की तुलना में समीर अमीन दो कारणों से अलग थे। अक्सर तो समाजवाद के लक्ष्य के लिए प्रैक्सिस के प्रति उनकी निरपेक्ष और अडिग प्रतिबद्धता रही। वे कोई आरामतलब सिद्धांतकार नहीं थे जो समकालीन यथार्थ का विश्लेषण करने के लिए मार्क्सवाद के उपकरणों का इस्तेमाल करता हो और इसे एक पृथक बौद्धिक अभ्यास की तरह बरतता हो। इसके उलट वे एक संजीदा और प्रतिबद्ध एक्टिविस्ट थे, जिसके लिए बौद्धिक विमर्श अनिवार्यतः प्रैक्सिस का पूरक कार्य रहा। वे हमेशा साथी एक्टिविस्टों को संगठित करने में लगे रहे ताकि परिवर्तन लाने के लिए प्रभावी हस्तक्षेप किए जा सकें। इसी के चलते वे ज़मीनी आंदोलनों के साथ काफी करीब से जुड़े रहे। सेनेगल के कम्युनिस्ट आंदोलन से लेकर तमाम किस्म के एनजीओ संचालित आंदोलनों के साथ उनका जुड़ाव था और बदले में ये आंदोलन भी मदद और दिशा के लिए इनकी ओर ताकते रहते थे।

उनकी दूसरी विशिष्टता अपने मार्क्सवादी विमर्श में साम्राज्यवाद को केंद्रीय तत्व की तरह बरतना था। नवउदारवादी वैश्वीकरण को आम तौर से साम्राज्यवाद के छीजते जाने की प्रक्रिया के रूप में देखने वाले विकसित देशों व तीसरी दुनिया के कई मार्क्सवादियों (मंथली रिव्यू समूह इसका एक अपवाद कहा जा सकता है) की तुलना में उनका यह प्रस्थान-बिंदु एकदम अलहदा था। अमीन साम्राज्यवाद को न सिर्फ पूंजीवाद के केंद्रीय तत्व के रूप में देखते थे बल्कि श्रम के मूल्य के सिद्धांत के खांचे में उसे परखते थे। इसके लिए उन्होंने असमान विनिमय के सिद्धांत पर जो काम किया था, उसी के लिए उन्हें जाना जाता है।

यह तथ्य व्यापक रूप से स्वीकार्य है कि महानगरीय पूंजीवाद के साथ तीसरी दुनिया के नत्थी हो जाने के चलते असमान विनिमय की एक प्रक्रिया का उभार हुआ। यहां सवाल हालांकि उस "मानक" से जुड़ा है जिसके बरक्स विनिमय को हम असमान कहते हैं। बहुत से लोगों ने इस

प्रस्थापना को स्वीकार किया है, जो मिशेल कलेकी के इस विश्लेषण से निकला है कि महानगरीय पूंजीवाद के भीतर "एकाधिकार की हद" में बढ़ोतरी ने तीसरी दुनिया में मूल जिंस उत्पादकों के दोहन में इजाफा किया है। इससे हालांकि मानक अथवा स्रोतबिंदु तय करने के लिहाज से कोई विशिष्ट ऐतिहासिक तिथि तय करना समीचीन हो जाता है (एक ऐसी तिथि जहां से एकाधिकार की हद में बढ़ोतरी को मापा जा सके) जिसके बरक्स हम विनिमय में असमानता को अवस्थित कर सकें।

अमीन सहित असमान विनिमय के अन्य सिद्धांतकारों, जैसे कि इमैनुएल ने किसी तिथि को प्रस्थान-बिंदु मानने के बजाय एक अवधारणात्मक स्थिति को मानक मानना उचित समझा। अमीन के लिए असमान विनिमय इस तथ्य में परिलक्षित होता है कि परिधि पर साधारण श्रम की एकल इकाई द्वारा एक निश्चित अवधि में किया गया मूल्य-संवर्द्धन दरअसल केंद्र में (यानी महानगरों में) इसी अवधि के भीतर साधारण श्रम की एकल इकाई द्वारा किए गए मूल्य-संवर्द्धन के मुकाबले कम गिना जाता है। इसका संबंध इस तथ्य से भी है कि परिधि पर श्रमबल का मूल्य महानगरों में उसके मूल्य से कम होता है।

यहां यह स्पष्ट होता है कि अमीन के लिए असमान विनिमय अपने आप में कोई अवधारणात्मक केंद्रीयता रखने वाली चीज़ नहीं है बल्कि मूल सवाल अतिशोषण (सुपर-एक्सप्लॉयटेशन) का है। मसलन, कुल श्रम अवधि (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष) को समान रखते परिधि व केंद्र में उत्पादित जिंसों के परस्पर विनिमय में जब तक परिधि पर श्रमबल का मूल्य केंद्र में श्रमबल के मूल्य से कम बना रहेगा, अतिशोषण जारी रहेगा। इकलौता फ़र्क यह आएगा कि ज्यादा मुनाफा उनका बनेगा जो परिधि पर उत्पादित जिंसों का विक्रय करते हैं (और ये विक्रेता महानगरों की बहुराष्ट्रीय कंपनियां भी हो सकती हैं)। इसीलिए साम्राज्यवाद और असमान विनिमय की अमीन की अवधारणा के केंद्र में परिधि के मजदूरों का अतिशोषण स्थित है। उनका कुछ आलोचक, जैसे कि चार्ल्स बेतलेहम, दलील देते हैं कि श्रम की उत्पादकता के सापेक्ष श्रमबल का मूल्य परिधि के मुकाबले महानगरों में कम होता है लिहाजा परिधि के मजदूरों के अतिशोषण का सवाल ही नहीं उठता। इसका ज़ाहिर जवाब यह बनता है कि चूंकि दोनों क्षेत्र असमान जिंसों का उत्पादन करते हैं (जिसका लेना-देना श्रम के अंतरराष्ट्रीय विभाजन की औपनिवेशिक परिपाटी से है) लिहाजा श्रम की उत्पादकता की तुलना भौतिक संदर्भों में संभव नहीं है, चूंकि ऐसी तुलना अपने आप असमान विनिमय के प्रभाव को अपने भीतर समाहित किए हुए होगी। यह तुलना वास्तव में मूल्य के संदर्भ में की जानी होगी। संक्षेप में, यदि आप असमान विनिमय के प्रभाव का इस्तेमाल असमान विनिमय के मूल तथ्य को ही गलत ठहराने के लिए करते हैं, तो यह विडंबना के सिवाय और कुछ नहीं है।

श्रम के अंतरराष्ट्रीय विभाजन की औपनिवेशिक परिपाटी हालांकि असमान विनिमय के सिद्धांत के संबंध में एक सवाल खड़ा करती है। यदि श्रमबल का मूल्य केंद्र के मुकाबले परिधि पर कम है, तब क्यों नहीं सारी गतिविधियां परिधि से केंद्र की ओर स्थानांतरित हो जातीं। यह अपने आप में उस श्रम-विभाजन का निषेध कर देगा जिसके अंतर्गत परिधि मोटे तौर पर प्राथमिक जिंसों के उत्पादन तक सीमित रही आई जबकि केंद्र ने विनिर्माण के काम किए।

यह सवाल इमैनुएल के असमान विनिमय सिद्धांत के संदर्भ में तो और ज्यादा प्रमुखता से खड़ा होता है, जिनका कहना था कि परिधि और केंद्र पर उत्पादित जिंसों का विनिमय उनके उत्पादन मूल्य पर होता है न कि परिधि के मुकाबले केंद्र में मिलने वाली कम मजदूरी के आधार पर बने मूल्यों के हिसाब से। इमैनुएल मोटे तौर पर यह कह रहे थे कि पूंजी की आवाजाही दोनों बिंदुओं पर मुनाफे की दर को बराबर कर देती है, जबकि दोनों ही अपने-अपने उत्पादों के उत्पादन में विशेषज्ञता बनाए रखते हैं। इससे जो सवाल पैदा होता है, वो यह है कि पूंजी की यह आवाजाही आखिर इस विशेषज्ञता को पूरी तरह विरूपित क्यों नहीं कर देती और नतीजतन क्यों नहीं विनिर्माण का सारा धंधा केंद्र से उठकर परिधि पर स्थानांतरित हो जाता?

आज बिलकुल यही परिघटना हमें वैश्वीकरण के तहत एक सीमा तक देखने को मिल रही है, फिर भी यह दोनों क्षेत्रों के बीच श्रमबल के मूल्य में व्याप्त अंतर को नहीं मिटा सकी है (हालांकि दोनों का अलहदा दिशाओं में बढ़ना थम गया है चूंकि महानगरों में श्रम-उत्पादकता बढ़ने के साथ मजदूरी का बढ़ना रुक चुका है)। कहने का मतलब यह है कि समीर अमीन दरअसल केवल असमान विनिमय की सैद्धांतिकी ही नहीं गढ़ रहे थे बल्कि पूंजीवाद को कई चरणों से होकर गुजरने वाली एक वैश्विक व्यवस्था के रूप में भी देख रहे थे (जिसमें मौजूदा वैश्वीकरण सबसे हालिया चरण है) और इस तथ्य को सूत्रीकृत कर रहे थे कि परिधि पर किया जाने वाला श्रम पूंजीवाद के प्रत्येक चरण में अतिशोषित ही रहता है। यह वैश्विक स्तर पर पूंजी के संकेंद्रण के मद्देनज़र मार्क्स के विश्लेषण को आगे बढ़ाने का एक अहम काम था। समीर अमीन के विश्लेषण से यह सुस्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि परिधि को यदि वास्तविक प्रगति करनी है तो उसे वैश्विक पूंजीवाद से खुद को असम्पृक्त करना होगा। मेरे खयाल से असम्पृक्तता की ऐसी ज़रूरत पर अमीन ने जैसी निरंतरता और ताकत से बल दिया है, वैसा किसी ने नहीं किया। जापान इस मामले में अपवाद है जो महानगरीय पूंजीवाद का हिस्सा न होते हुए भी विकसित देशों की कतार में शामिल हो गया। वह ऐसा करने में इसलिए समर्थ हुआ क्योंकि वह कभी उपनिवेश नहीं रहा। और कोई भी देश इस कोशिश में अब तक कामयाब नहीं हो सका है, हालांकि अमीन के मुताबिक चीन में अकेले इसकी क्षमता दिखती है, जिसका श्रेय माओ के दौर में किए गए दीर्घकालिक सुधारों की पृष्ठभूमि को जाता है (बशर्ते पश्चिम के सैन्य आक्रमण का उसे शिकार न बनना पड़े, जैसा कि अमीन के मुताबिक चीन और उत्तर-सोवियत रूस के लिए बराबर खतरा है)।

अमीन साफ़ तौर से मानते थे कि नवउदारवादी पूंजीवाद का मौजूदा चरण अपने अंतिम छोर पर पहुंच चुका है। ऐसा नहीं कि खुद पूंजीवाद अनिवार्यतः किसी ऐसी सुरंग के दूसरे छोर पर पहुंच चुका हो जिसका मुंह बंद है। असल सवाल यह है कि यहां से आगे किधर जाना है। पूंजीवादी समायोजन के किसी नए दौर में या समाजवाद की ओर? यह हमारी प्रैक्सिस पर निर्भर करेगा। यही कारण है कि अपनी तकरीबन आखिरी सांस तक अमीन खुद क्रांतिकारी प्रैक्सिस में सक्रिय रहे और दूसरों को भी सक्रिय होने को प्रोत्साहित करते रहे। वे तो नए इंटरनेशनल के गठन तक का सुझाव दे रहे थे ताकि दुनिया भर में क्रांतिकारी प्रैक्सिस को समन्वित किया जा सके। उनके स्वभाव की गर्मजोशी, कामरेडाना व्यवहार और दयालुता के बगैर अमीन के जीवन का कोई भी विवरण अधूरा रहेगा। उनका उत्साह, उनकी हँसी और लोगों को जोड़ने व उन्हें एक क्रांतिकारी प्रैक्सिस की ओर प्रवृत्त करने की उनकी अदम्य ऊर्जा किसी को भी संक्रमित और ऊर्जित कर देती थी जो उनके संपर्क में आता था। उनसे बात करना अपने आप में सीखने का एक सुखद अनुभव था, भले आप उनसे सहमत हों या नहीं। वे बात करते वक्त आपको तमाम विषयों की सैर पर ले जाते थे, युद्धोत्तर फ्रांस से लेकर 2008 के वित्तीय संकट तक वाया बांडुंग सम्मेलन। यह एक ऐसे कम्युनिस्ट से बात करने का सुख था जिसके मन में अब तक आस्था शेष थी। उनके तमाम दोस्त, कॉमरेड और प्रशंसकों को उनकी कमी बहुत अखरेगी।

(साभार: समयांतर)